जीव-ज्योति

हमारा परम सौभाग्य है कि आज हम सब इष्ट-कृपा से दीपावली पर्व के शुभारम्भ के अवसर पर एकत्र हुए हैं। यह परम पावन एवं अति प्राचीन महोत्सव है। हम पुनः पुनः अपने इन उत्सवों को मनाने के लिए एकत्रित होते हैं। उत्सव आना और उत्सव मनाना, दो पृथक् बातें हैं। उत्सव तो अपनी निर्धारित तिथियों, पौराणिक कथाओं व धार्मिक रीति-रिवाजों के अनुसार आते हैं और हम उन्हें मनाते हैं। यह मनाना क्या है? **उत्सव मनाना मन का धर्म है, जिसको हम मानते हैं, उसी को मनाते हैं।** जिसे हम मानेंगे ही नहीं, उसे मनाएँगे कैसे? वास्तव में उत्सव मनाना सबके वश का काम नहीं है। दीपावली के दिन लक्ष्मी पूजन सभी करते हैं। यह पूजन करना पृथक् बात है और दीपोत्सव मनाना पृथक् बात है। करने को तो हम बहुत कुछ बिना मान्यता के नकल करके भी कर लेते हैं। लेकिन बिना मान्यता के हम कुछ मना नहीं सकते। यदि मनाएँगे तो वह मात्र औपचारिकता ही होगी, क्योंकि तब हम मात्र आडम्बर करेंगे।

हम यदि कोई त्यौहार मना रहे हैं तो हमारे मन में उसकी मान्यता होनी परमावश्यक है। मान्यता मन का धर्म है। आज भौतिकवादी परिवेश में त्यौहारों का स्वरूप इसलिए विकृत हो गया, क्योंकि हमारी मान्यता ही नहीं रही। उत्सव के नाम पर मात्र आडम्बर और औपचारिकता ही शेष रह गई है। सर्वप्रथम, हम में उत्सव की धारणा ही नहीं है। मैंने उत्सव की परिभाषा दी थी–***'जब दो या अधिक लोग आनन्द में मिलते हैं, आनन्द में विचरते हैं, आनन्द में बिछुड़ते हैं, पुनः आनन्द में मिलने के लिए, तो उसे कहा***

है—उत्सव।' जब यह प्रकरण बार-बार होता है तो उसे महोत्सव कहते हैं। उत्सव का मूल, मध्य व अन्त आनन्द ही है। आज हम दीपावली उत्सव एक नवीन एवं सर्वथा भिन्न आयाम से मना रहे हैं।

एक नवजात मानव-शिशु जब धरा पर आता है तो वह विशुद्ध महाचेतना का प्रतिनिधि होता है। कालान्तर में उसका एक नाम रख दिया जाता है और उसको उसके रूप से अवगत करा दिया जाता है। उस समय वह महाचेतनता संकुचित, तुच्छ व क्षुद्र होकर अपने एक नाम-रूप की चेतनता में सीमित हो जाती है। जैसे-जैसे उसका तथाकथित विकास होता है (जिसे सही अर्थों में ह्रास कहना ही उचित है) वह अपने **'जीवन के लिए'** कुछ न कुछ करने लगता है। **'जीवन के लिए'** ही जो भागदौड़ कर रहे हैं, उनके द्वारा उसे प्रेरित किया जाता है, कि कैरियर बनाओ, तथाकथित शिक्षा प्राप्त करो, रोज़ी-रोटी का जुगाड़ करो, आदि-आदि।

काल के भूत, भविष्य व वर्तमान तीन भाग हैं। **'जीवन के लिए'** भागदौड़ में हम अपने जीवन्त वर्तमान का आनन्द खो देते हैं। जब हमें इस नाम-रूप की देह के साथ अज्ञानवश व मूर्खतावश अध्यास हो जाता है कि **'मैं यह देह हूँ'** और **'यह देह मेरी है'** तो सारा जीवन हम इस देह व देह पर आधारित जगत के लिए ही धक्के खाते रहते हैं। हमारे जीवन के प्रत्येक वर्तमान का एक अतीत होता है और एक भविष्य होता है। यदि हम स्वयं पर ईमानदारी से एकाग्र करें, तो पाएँगे कि हम कभी भी अपने वर्तमान में नहीं जीते। **हम अतीत अथवा भूतकाल के किसी शोक से ग्रसित होते हैं अथवा भविष्य की किसी चिन्ता से ग्रसित रहते हैं। इससे हमारा आनन्दमय वर्तमान आच्छादित हो जाता है और इसी प्रकार हमारा जीवन चलता रहता है।** एक प्रक्रिया समाप्त होती है, दूसरी शुरू हो जाती है तथा अन्ततः जीवन का अन्त हो जाता है, जिसे कहा है—**'मृत्यु'**। इस जन्म और मृत्यु के मध्य में हमारा जीवन-काल बँधा हुआ है। हम ख़ुदा से बन्दे बन गए, ख़ुदा जो खुला हुआ है, बन्दा जो बँधा हुआ है।

यह जन्म और मृत्यु के मध्य जीवन का बन्धन भी ठीक, सटीक व पूर्ण

नहीं था। हम अधूरेपन में भी अधूरे ही हैं। **हमारे जीवन का प्रारम्भ, जिसे हम जीवन का आदि कहते हैं, वह है—हमारा जन्म और अन्त का नाम है—मृत्यु। यह भी हमारी अधूरी धारणा है, क्योंकि हमारी भौतिक देह के आदि का भी एक आदि है।** जिस दिन हमारी देह का माँ के गर्भ में गर्भाधान हुआ था, वह हमारी भ्रूणावस्था थी और वह था हमारे **आदि का आदि**। **हम मृत्यु को जीवन व देह का अन्त कहते हैं, जबकि मृत्यु का भी एक भौतिक भविष्य है। जिसके बाद अपने रीति-रिवाजों के अनुसार देह को जला दिया जाता है या दफ़ना दिया जाता है। जिसकी भस्मी या मिट्टी बनती है और वही है हमारी भौतिक-देह के अन्त का अन्त।** अपने भौतिक जीवन का किंचित विस्तार करिए, क्योंकि विस्तृत होने की आदत ही हमें महाविस्तार की ओर ले जाएगी। हम जितने अधिक बुद्धिजीवी होते गए, उतने ही हम संकुचित व सीमित होते गए। आज इस दीपावली के उत्सव पर अति विस्तृत होकर समस्त विश्व को अपने हृदय में समेट लीजिए और यह विस्तार स्वयं से प्रारम्भ कीजिए।

हमारे जन्म का आदि वह है, जिस दिन माँ के गर्भ में हमारा गर्भाधान हुआ। वह भी एक काल था, लेकिन वह काल, गणना में नहीं आ सकता। यदि पूछो कि आप माँ के गर्भ में कितने दिन रहे, तो यही कहेंगे कि 'मैं भी औरों की तरह लगभग नौ महीने रहा हूँगा,' लेकिन आप गर्भ में कब आए थे, यह आप नहीं बता सकते, न ही आपके माता-पिता बता सकते हैं। लेकिन इसकी भी गणना तो है, जो हम नहीं कर सकते। इसी तरह से हमारे अन्त **'मृत्यु'** का भी एक अन्त है, उसकी भी गणना हम नहीं कर सकते। मृत्यु के बाद कब **हमें** जलाया जाएगा, कब उसकी राख बनेगी, निश्चित तौर पर कोई नहीं बता सकता। हालाँकि, वह भी एक काल से बँधा हुआ समय है। आप अपने पूर्वजों और ऐतिहासिक महापुरुषों की जीवनियाँ या आत्मकथाएँ पढ़िए, उस आदि के आदि और अन्त के अन्त का वर्णन कहीं भी नहीं होता। **अतः हमारी कालबद्ध देह के आदि यानि जन्म से पहले एक ऐसा काल है, जो कि काल-गणना से परे है और उसके अन्त यानि**

मृत्यु के बाद भी एक काल है, वह भी गणना से परे है।

आज एक नितान्त नवीन, दुर्लभ, परन्तु परम सत्य धारणा मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ। इसे हृदयंगम व आत्मसात् करना आपके लिए कठिन हो सकता है, लेकिन प्रभु-कृपा से असम्भव नहीं है। यदि इसका चस्का पड़ जाए, तो जीवन के परम सत्य से अवगत होने में हमें विलम्ब नहीं होगा। हम सभी मनोरंजन चाहते हैं, आज इस परम पावन पर्व पर इस **व्यास-गद्दी** से मैं निजी-अनुभूतिगत ऐसा महामनोरंजन प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसके आगे सारे मनोरंजन फीके व समाप्त-प्रायः हो जाते हैं। **'मेरा सबसे उत्तम मनोरंजन मेरा अपना दाह-संस्कार है'–"My biggest recreation is my own cremation."**

जहाँ मेरा मन स्थिर हो जाता है, जहाँ मैं दीन-दुनिया भूलकर अपने सच्चिदानंद स्वरूप में खो जाता हूँ, मैं प्रकृति -पुरुष, खुदा-बन्दा सबको भूल जाता हूँ, माया और मायापति दोनों को भूल जाता हूँ:–

''न मैं बन्दा था, न मैं खुदा था, मुझे मालूम न था,
मैं खुद ही खुद में पर्दा बना था, मुझे मालूम न था।''

मैं जब स्वयं अपनी देह का दाह-संस्कार करता हूँ तो मेरा अति सौन्दर्यवान, परम ज्ञानवान, ऐश्वर्यवान, ख्यातिवान, परम सशक्त व परम त्यागवान स्वरूप प्रकट होता है। दीपक जला कर दीपावली मनाते तो कई युग बीत गए, इस बार ऐसा महादीप जलना चाहिए जो कभी न बुझे। आपके जीवन का हर पल दीवाली हो जाए। दीपों की श्रृंखलाएँ आपके सम्मुख नत-मस्तक हो जाएँ। जीते जी अपना दाह करना तो आत्मदाह हुआ, वह तो कोई भी कर सकता है। उसे आत्महत्या कहा जाता है, लेकिन दाह-संस्कार शव का होता है। **हमारा भी दफ़न या दाह-संस्कार अवश्य होगा। उससे पहले हमको शव बनना पड़ेगा, लेकिन उस समय हम नहीं होंगे। उस शव का अग्निदाह जब होगा, तो भी हम नहीं होंगे, लेकिन वह होगा, अवश्य।** मैं जीवन में कुछ और बन सकूँ या न बन सकूँ, कोई और लक्ष्य प्राप्त कर सकूँ या न कर सकूँ, यह एक ऐसा निश्चित परिलक्षित और

प्रत्यक्ष-दर्शित **भविष्य** है, जो अवश्य आएगा। लेकिन जब वह आएगा, तब मैं ही नहीं रहूँगा। **हमारे जीवन की समस्त भागदौड़ गा, गे, गी, पर ही आधारित है,** कि मैं दो वर्ष बाद यह बन जाऊँगा, फिर हमारे बच्चे यह बन जाएँगे और फिर वह उपलब्धि हो जाएगी। हम सब गा, गे, गी, की ओर भाग रहे हैं। अरे ! भागते-भागते, इस अन्तिम 'गा' को पकड़ लीजिए कि 'मैं भस्मी बन जाऊँगा'। आप भविष्य की चिन्ता करते हैं, इस अन्तिम भविष्य को जीते जी आत्मसात् कर लीजिए। आपकी सारी चिन्ताएँ समाप्त हो जाएँगी, कि ''मैं शव बनूँगा ही, अतः मैं शव बन गया''। दस करोड़ रुपये की **लाटरी का टिकट खरीदते ही, बिना लाटरी निकले हम यह सोचकर कि 'मेरी ही लाटरी निकलेगी' करोड़ों की योजनाएँ बनाना शुरू कर देते हैं।** किसी व्यापार में दो लाख रुपये लगाकर करोड़ों के सपने देखने लगते हैं और स्वयं को करोड़पति मानने लगते हैं। वह गा, गे, गी आपको दौड़ाते रहते हैं कि किसी प्रकार से आप करोड़पति बन कर ही रहें। यदि प्रभु-कृपा से बन जाते हैं, तो अरबपति बनने की योजनाओं में व्यस्त हो जाते हैं। यदि नुकसान हो जाता है, आप करोड़पति नहीं बन पाते हैं अथवा आप 2 लाख रुपये लगाकर मानों 5 लाख ही बना पाते हैं, तो आप यही कहते हैं कि मेरा 95 लाख का नुकसान हो गया। करोड़पति आप उसी दिन बन गए थे, जिस दिन एक करोड़ की योजना बनाई थी। **लेकिन जब अपने अन्तिम भविष्य को, अपनी देह के अन्त के अन्त यानि भस्मी को, अपने ध्यान में देखते हैं तो हमारे सामने हमारी ख़ाक होती है और हम भी होते हैं। वहीं हमारा आनन्दमय वर्तमान जाग्रत हो जाता है।**

आप यदि जीवन्त वर्तमान में स्थिर होकर जीना चाहते हैं तो कोई ऐसा बोझा ले लीजिए, जिससे आपके भूत के शोक और भविष्य की चिन्ताओं के भार उतर जाएँ। उत्सव मनाने के लिए आनन्द में मिलना, आनन्द में विचरना और पुनः आनन्द में मिलने के लिए आनन्द में बिछुड़ना है। इसके लिए आपके स्वरूप का आनन्द जाग्रत होना परमावश्यक है। जिस चेतनता से उतर कर आपने स्वयं को अपने नाम-रूप की तुच्छ चेतना में संकुचित

कर लिया है, **उस चेतनता को जाग्रत करने के लिए आपका सबसे बड़ा मनोरंजन आपका अपना अन्तिम संस्कार है।** इसका अर्थ यह नहीं है कि आप आत्म-हत्या कर लें। आत्म-हत्या करके आप मर सकते हैं, लेकिन आप अपने उस अन्त के अन्त तक नहीं पहुँच सकते। आप अपना दाह या दफ़न कैसे करेंगे, स्वयं को भस्मी या मिट्टी रूप में कैसे देखेंगे?

आप कृपया बहुत एकाग्रता से इस विषय का श्रवण करें। इस वर्ष की दीपावली परम प्रकाशमय हो। इस दीपोत्सव से आप इस प्रकार अभिन्न हो जाएँ, कि अगले वर्ष की दीपावली के आने तक इसी आनन्द में रहें। अतः ध्यान में जब **मैं अपनी देह को शव बनते और उसका दाह-संस्कार होने के बाद भस्मी बनते देखूँगा तो वहाँ मैं भी हूँगा और मेरी देह की वह भस्मी भी होगी। इस प्रकार यदि मैं अपनी देह की भ्रूणावस्था यानि आदि के आदि में स्वयं को ले जाऊँ, तो मैं पा ऊँगा कि वहाँ भी मैं था। मेरा एक स्वरूप ऐसा है जो मेरे जन्म के पहले भी था और जो मेरी मृत्यु के बाद भी रहेगा।** मेरा वह स्वरूप काल की परिधि में बँधा हुआ नहीं है। **तो आदि व अन्त के मध्य में 'मैं' और मेरा वह स्वरूप कहाँ है? सारा झमेला मध्य का ही है।** मध्य में मैं माँ बनता हूँ, पिता बनता हूँ, पुत्र बनता हूँ, पति बनता हूँ, मित्र बनता हूँ, शत्रु बनता हूँ, पापी-पुण्यी, राजा-रंक, असुर, मानव, पशु-पक्षी और न जाने क्या-क्या बनता हूँ, जबकि मैं वही हूँ जो मैं अपने आदि के आदि में था और अन्त के अन्त के बाद भी रहूँगा। तो मध्य में **'मैं'** कहाँ छिपा हुआ हूँ?

आश्वस्त हो जाएँ कि आप एक निरन्तरता हैं। **आपकी देह के आदि के आदि का एक अनादि था और आपकी देह के अन्त के अन्त का एक अनंत होगा। वह अनादि व अनन्त 'मैं' हूँ।** इस दीपावली के पर्व पर आप अपने उस स्वरूप को जाग्रत कर लीजिए। वह मेरा स्वरूप, मध्य में कहाँ है ? इस अति प्राचीन परम पावन उज्ज्वल व पुनीत पर्व पर अपने उस स्वरूप का दीप प्रज्ज्वलित करिए। **उत्सव का अर्थ ही यह है कि हमारे जीवन में उस परम आनन्द की जागृति हो जाए।** कम से कम उस स्वरूप की स्मृति

हो जाए। उसकी स्मृति हो जाएगी तो कभी न कभी उसकी जागृति भी अवश्य हो जाएगी। मेरा अनादि-अनन्त अति सौन्दर्यवान, परम सशक्त, अति ऐश्वर्यवान, परम ज्ञानवान, ख्यातिवान एवं वैराग्यवान स्वरूप जो देशातीत, कालातीत, कर्तव्यातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत व मायातीत स्वरूप मध्य में भी था, और वह मेरा **वर्तमान** था, जिसमें मैं कभी भी नहीं जिया। **यदि आप पर्व या उत्सव आनन्दपूर्वक मनाना चाहते हैं, तो अपने वर्तमान में स्थिर होकर मनाइए।**

अतीत जो भूत है, जो बीत गया, उसका हमें शोक है। अब वह मात्र ख़याल है, लेकिन ख़याल का वह शोक रूपी भूत और भविष्य की चिन्ताएँ पिशाच बनकर हमसे चिपकी रहती हैं। राग, द्वेष, डाक, डाकनियाँ, शाक, शाकनियाँ, चुड़ेलें, डायने आदि अतीत के शोक और भविष्य की चिन्ता रूपी पिशाचों का परिवार है, जो मेरे ऊपर इसलिए सवार रहता है, क्योंकि **'मैं'** वर्तमान में अपनी देह के मोह से ग्रसित हूँ। **'मैं देह हूँ' या 'देह मेरी है'** इस मिथ्या अध्यास के कारण हम अपने नाम-रूप से ही स्वयं को पहचानने लगते हैं और भूत-पिशाचों का उक्त परिवार अतीत व भविष्य बनकर हमें चुपचाप खाने लगता है तथा हमें पता भी नहीं चलता। हमारा आनन्द हमसे छिन जाता है, क्योंकि हम स्वयं अपने से दूर हो जाते हैं। हमारा स्वरूप नष्ट नहीं होता बल्कि खो जाता है —***'भूत, पिशाच निकट नहीं आवैं, महावीर जब नाम सुनावैं।'*** **जब शिवत्व जाग्रत हो जाता है तो वे ही हमारे लिए नाचने लगते हैं ।** इनके दो ही काम हैं **नोचना या नाचना।** जहाँ हम समय पर अधिकार करना चाहते हैं, वहीं भूत, प्रेत हमें नोचने लगते हैं। चिन्ताएँ, भय व शोक हमारे पीछे लग जाते हैं। समय कालेश्वर का है, हम उस पर अधिकार नहीं कर सकते। परन्तु इसके लिए खाली होना परमावश्यक है। जो व्यक्ति व्यस्त है, वह समय पर अपना अधिकार कैसे छोड़ सकता है? वर्तमान में, जब हम प्रभु का, इष्ट व सद्गुरु का नाम-स्मरण करते हैं तो अतीत के भूत और भविष्य के पिशाच सब भाग जाते हैं। मैंने **'वर्तमान-रहस्य'** शीर्षक प्रवचन में इसका सविस्तार वर्णन किया है।

हम ध्यान में अपने अन्तिम संस्कार को अपने सामने होते देखते हैं, जिसमें हम भी होते हैं और हमारी भस्मीभूत देह भी हमारे सम्मुख होती है। ध्यान में उस भस्मी में से एक चुटकी भस्मी ले लीजिए (जैसेकि ध्यान में हम अन्य छोटे-छोटे भविष्य लेकर चलते हैं) वह खाक मेरे अन्त का अन्त है। मेरे आदि का भी एक आदि था, वह पंच-प्राणों (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) का ज्योति-पुंज था। वहाँ मेरी ख़ाक नहीं थी, वहाँ एक ज्योति-पुंज था—**निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।** मैं इस वर्ष की दीपावली का दिया बना रहा हूँ। **अरे ! उस महाज्योति से छोटी सी लौ लेकर, अपनी चुटकी भर ख़ाक को उस लौ का आधार बनाओ, आपका दीपावली का दीप बन जाएगा।** यह एक मानसिक दिया है—**आपके अन्त के अन्त से ली गई चुटकी भर राख पर, आपके आदि के आदि से ली गई टिमटिमाती हुई लौ** को दीप रूप में अपने वर्तमान में जला लीजिए। इस व्यास-गद्दी से मैं आपको आश्वस्त करता हूँ कि इस तरह उस दीप के जलते ही आपके भीतर शिवत्व जाग्रत हो जाएगा। उस दिये के जलते ही अन्य क्या घटनाएँ होंगी, उनकी कुछ झलकियाँ मैं आपको देता हूँ।

एक तो आपके अतीत के भूत व भविष्य के पिशाच जो आपको नोंच रहे थे, वे आपके लिए नाचने लगेंगे। ये सब भूत, पिशाच भगवान शंकर के गण हैं, जो उन्हें आनन्दित करते हैं। जब वह पंच-प्राणों की अखण्ड टिमटिमाती हुई ज्योति जलेगी, वही शिवत्व है। **वही शिव जो माया रूपी चुटकी भर भस्मी के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के साकार रूप में आता है और उनकी शक्ति महासरस्वती, महालक्ष्मी व माँ भवानी दुर्गा बनकर हमारे सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का निर्माण, पालन व संहार करती हैं।** आपके आदि के आदि की पंच-प्राणों की ज्योति जब आपके अन्त के अन्त की चुटकी भर भस्मी के आधार रूपी दीप के ऊपर प्रज्ज्वलित होती है तो आपका देहाध्यास तुरन्त छूट जाता है। देहाध्यास छूटते ही अतीत के भूत और भविष्य की चिन्ताओं के पिशाच आपके लिए नृत्य करने लगते हैं। अतः शोक **अशोक** बनकर, चिन्ता **निश्चिन्तता** बनकर और भय **अभय** बनकर आपके लिए नाचने लगते

हैं। मैं अविरल, अखण्ड चेतना हूँ जिसका आधार चुटकी भर भस्मी है, इस सत्य के आत्मसात् होते ही ये नाचने लगते हैं। **नुचवाता असत्य है और सत्य नचवाता है। जिसका मध्य सत्य है उसका भूत, भविष्य होगा ही नहीं, उसका सब कुछ वर्तमान ही वर्तमान है, सत्य ही सत्य है** :–

'आदि सच जुगादि सच, है वी सच, नानक होसी वी सच।'

भगवान शंकर भस्मीभूत रहते हैं। महादेव की जब बारात निकली तो बाबा के अपने गण भूत, पिशाच, चुड़ेलें, डायने आदि नृत्य कर रहे थे। बाबा, नन्दी बैल की पूँछ की ओर मुँह करके बैठे हुए अपना डमरू स्वयं बजा रहे थे और नृत्य का आनन्द ले रहे थे। शोक–**अशोक**, भय–**अभय,** चिन्ता–**निश्चिन्तता**, बन कर व वैर-वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष सब अपना स्वरूप भूल कर नाच रहे थे। बारात में कुछ समझदार भी थे, उन्होंने सुझाव दिया कि बाबा आप नंदी के मुँह की ओर मुँह करके बैठें। बाबा बोले–मेरे बाराती पीछे नाच रहे हैं तो मैं उनकी ओर ही मुँह करूँगा। फिर आधे बाराती नन्दी के आगे किए गए और आधे पीछे रहे, तब बाबा ने आगे की ओर मुँह किया। इन पौराणिक गाथाओं में अध्यात्म के सूत्र छिपे हैं। **जब आप अपने आदि के आदि से पंच-प्राणों की ज्योति की टिमटिमाती हुई लौ, अपने अन्त के अन्त की चुटकी भर भस्मी का आधार लेकर दीप बनाते हैं और ध्यान में उस जीव-ज्योति का दर्शन करते हैं तो आपके भीतर भी शंकरत्व जाग्रत हो जाता है।** अतीत के शोक रूपी भूत और भविष्य की चिन्ता रूपी पिशाचों का परिवार अपना स्वरूप भूल जाता है। रूपान्तरित होकर ये आपके दरबार में आपके मनोरंजन के लिए नृत्य करते हैं। ऐश्वर्य रूपी विष्णु व लक्ष्मी आपकी स्वतः अगुवाई करते हैं, उनका महात्म्य आपके लिए समाप्त हो जाता है। आप उन प्रेतों का नृत्य देखने में तन्मय हो जाते हैं, क्योंकि शिवत्व जाग्रत हो जाता है। आप किसी के संगीत में विश्वास नहीं करते, आप अपना बाजा स्वयं बजाते हैं, क्योंकि आप इतने आनन्दित हैं कि आप नहीं चाहते कि कोई आपके आनन्द में विघ्न डाले। आप अपनी स्वयं की सत्ता में स्थित हो जाते हैं।

हम सब उधार का जीवन जी रहे हैं, किसी दूसरे के बाजे पर नाच रहे हैं। आप अपने संगीत पर आनन्दित हों, आपकी अपनी विधाएँ रूपान्तरित होकर आपके लिए नाचें, आप उनके लिए न नाचें। **क्योंकि योगी के दरबार में भोग नाचते हैं और भोगी भोगों के दरबार में नाचता है। योगी भोगों को भोगता है और भोगी को भोग, भोग जाते हैं।**

जब वह टिमटिमाती हुई लौ उद्दीप्त होगी, प्रदीप्त होगी, विकसित होगी, दैदीप्यमान हो जाएगी तो आपकी समस्त तामसिक शक्तियाँ जो आपको चुपचाप जन्मों-जन्मान्तरों से खा रही थीं, वे आपके दरबार में रूपान्तरित होकर नृत्य करने लगेंगी। आपके भीतर की जीव-ज्योति प्रचण्ड हो जाएगी। आपका बाह्य एवं भीतरी जगत आलोकित हो जाएगा तथा आपके भीतर भगवान की भगवत्ता प्रकट हो जाएगी।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(31 अक्टूबर, 2004)

आत्मरंजन

किसी भी व्यक्ति का आध्यात्मिक गौरव उसके मन व बुद्धि की स्थिरता पर निर्भर करता है। मन और बुद्धि की स्थिरता जिस व्यक्ति में जितनी अधिक है, उतना ही वह आध्यात्मिक है। स्थिर-प्रज्ञ, किसी भी ऐसी वस्तु, व्यक्ति व प्राणी को सहन नहीं करते, जो उनकी स्थिरता खंडित करे। आत्मरंजन और **मनोरंजन** का भी स्थिरता से सीधा सम्बन्ध है। फिल्म देख लो, ताश खेल लो, पार्टी में चले जाओ, यह सब बड़ा ही कृत्रिम मनोरंजन है, आत्मरंजन तो है ही नहीं। आप किसी मन-बहलाव के साधन का प्रयोग कर रहे हैं, लेकिन आपका मन यदि स्थिर नहीं है, तो वह मनोरंजन नहीं है। **जहाँ आपका मन स्थिर हो जाए, वही मन का रंजन है, वही मन का आनन्द व खुशी है। अस्थिर मन कभी आनन्द नहीं दे सकता।** जो अस्थिर है, वह अशान्त व अशक्त भी होगा और मानवीय मन ऐसा ही है। जो अशान्त है, वह भयभीत भी होगा और **भय और भोग कभी एक मंच पर नहीं रहते।** अतः अस्थिर मन से कभी मनोरंजन नहीं हो सकता।

किसी भी स्थिति में कोई व्यक्ति कितना मनोरंजन कर सकता है, यह उसकी मानसिक स्थिरता का द्योतक है। संसारी लोग मनोरंजन भी अधिक नहीं कर सकते, क्योंकि वे अस्थिर होते हैं। योगी ईश्वर से जुड़ा होता है, उसका मन स्थिर होता है, अतः भोगों को भी वही आनन्दपूर्वक भोग सकता है। **संसारी लोगों को न माया मिलती है न राम। संसार के भोग भोगने और ईश्वर से जुड़ने, दोनों के लिए स्थिरता अपेक्षित है।** जिसने पत्थर में

ईश्वरत्व प्रकट करना है, उसके लिए महास्थिरता चाहिए। **मानवीय मन चूहे की तरह है।** चूहा गणेश जी का वाहन है। जिसने मन रूपी चूहे की सवारी कर ली, वह परम स्थिर होता है। इसलिए लक्ष्मी का प्राकट्य भी वहीं होता है।

आजकल मनोरंजन के लिए जो बाह्य भागदौड़ है, वह मानव मन की अस्थिरता का ही बाह्य प्रकटीकरण है। अस्थिर लोग एक ही समय में बहुत मनोरंजन चाहते हैं। वे खाना भी खाएँगे, टीवी भी देखेंगे। यदि मन और बुद्धि अस्थिर होंगे तो उनके सम्बन्धों का बाह्य प्रकटीकरण भी ऊतपटाँग होगा। उनके वक्तव्य, उनके कृत्य, उनका लेखन, उनकी कला व प्रतिभा के प्रदर्शन में उनके मन व बुद्धि की अस्थिरता को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। वे फिल्म देखने जाएँगे वहाँ भी किसी न किसी बहाने से, बार-बार उठते रहेंगे। जो स्थिर हैं, वे गुफा व जंगल में भी शान्त व आनन्दित बैठे रहते हैं। **लोग उनके पास जाकर आत्मोत्थान करते हैं तथा अपने मन को स्थिर करते हैं।** सुख क्या है? जहाँ थोड़ी देर के लिए आपका मन ठहर जाए, वह सुख है। सुख और मनोरंजन एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। कोई सुन्दर रमणीय दृश्य देखकर, कोई सुमधुर संगीत सुनकर, कोई कोमल स्पर्श करके, कोई सुगन्धित द्रव्य सूँघकर अथवा कोई सुस्वादु व्य जन खा कर जब, आपका मन ठहर जाता है, स्थिर हो जाता है, वही सुख है, वही मनोरंजन है। यदि कोई सन्त अथवा महापुरुष श्रोताओं में स्थिरता उत्पन्न नहीं कर सकता, तो समझिये वह मात्र बौद्धिक स्तर पर ही बोल रहा है।

हम अपने मन को अस्थिर कर के धन एकत्र कर रहे हैं। धन एकत्र हो जाता है, पर अस्थिर मन किसी भी प्रकार का भोग नहीं भोग सकता। **ईश्वरीय कृत्य, स्वतः भाव से होते हैं और वे प्रारम्भ, मध्य व अन्त, तीनों आनन्दों से युक्त होते हैं।** सुख-साधनों से जो भी मनोरंजन होगा, उसमें आपकी इन्द्रियाँ क्षणिक सुख तो ले सकती हैं, लेकिन वह सुख स्थायी तभी होगा, जब आपका मन आनन्द से जुड़ा होगा। आजकल युवा पीढ़ी जल्दी-जल्दी अपना मन बदलती रहती है। हर छः महीने बाद नौकरी बदल लेते हैं, घर बदल लेते हैं, रोज़ संगी-साथी बदलते रहते हैं। यह विकास की

उत्तम दिशाएँ ढूँढना नहीं है, बल्कि यह उनकी मानसिक अस्थिरता का द्योतक है। आपने देखा, नौकरी बदलने में चाहे आपको हज़ार, दो हज़ार रुपये ज्यादा मिल गए, लेकिन एक जगह जो इतने दिन काम किया, उसकी प्रतिष्ठा तो आपने खो ही दी न ! अतः जितनी स्थिरता आएगी उतना आपका बाह्य और भीतरी जगत आनन्दित होगा। उस आनन्द और स्थिरता के उपार्जन के लिए अपने मन को तनावित और परेशान नहीं करना है। मनोरंजन और सुख-साधनों को भोगने की एक औपचारिकता है कि आपका मन स्थिर होना चाहिए। किसी भी भौतिक सुख को लेने के लिए आपको स्थिरता चाहिए। ईश्वरत्व की अनुभूति के अधिकारी भी स्थिर व्यक्ति ही हो सकते हैं।

भौतिक सुखों को जो नहीं भोग सकता, वह आध्यात्मिक परम सत्य को तो छू भी नहीं सकता। ईश्वर की कामना इतनी हो जाए कि सब कामनाएँ छूट जाएँ। इतना महाक्रोध हो कि ईश्वर और आपके मध्य कोई न आ सके, वह कामिनी, कंचन, घर, परिवार चाहे कुछ भी हो। इतना नाम-जाप का लोभ हो जाए कि एक मिनट का समय भी आप किसी व्यर्थ की बात में बरबाद न करें। ईश्वर से इतना मोह हो जाए कि उसके बिना आप जी भी न सकें और मर भी न सकें। इतने महा अहंकारी हो जाएँ कि मात्र 'मैं ही ईश्वर की सन्तान हूँ'। एक पत्थर की मूर्ति के पास बैठना और उसे इष्ट मानकर उसके लिए पूरा जीवन दांव पर लगा देना कोई हँसी मज़ाक नहीं है। उसके लिए पागल होना आवश्यक है। प्रभु की मूरत को अपना सर्वस्व मानकर उसे मन व जीवन समर्पित कर देना कि जो होगा देखा जाएगा, कितनी बड़ी स्थिरता है। आपके मन में स्थिरता आते-आते ही उस पत्थर की मूरत से भगवत्ता प्रकट हो जाएगी। आप इतने **स्थिर** से अपना मन लगा बैठे हैं, जो ठोस घनशिला है,***'न कित आएबो, न कित जाएबो',*** टस से मस नहीं होता वह सच्चिदानंद परमात्मा। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन व संहार उसका भृकुटि-विलास मात्र है।

आपका मन किसी अस्थिर के साथ स्थिर नहीं हो सकता। आप किसी

व्यक्ति के पास कुछ आशा लेकर जाएँ और वह व्यक्ति अस्थिर हो तो आप दस मिनटों में वहाँ से बहाना बनाकर उसे छोड़ कर दूसरी राह ढूँढेंगे। **आपको मन का सुकून मिले, इसके लिए वह बन्दा भी स्थिर होना चाहिए, जो आपकी बात धैर्य से सुने, विचार करे, आपके लिए प्रार्थना करे, आपको उचित सुझाव दे। उसके पास जाकर आपका दुःख कम होगा, सुख मिलेगा और वह ही आपका स्वजन होगा।** जब आप एक स्थिर प्रतिमा के साथ दिल लगाकर उसमें ईश्वरत्व का आरोपण कर रहे हैं तो आप अपने मन की स्थिरता को बढ़ा रहे हैं। किसी जीते-जागते बन्दे से ही प्रेम करना कठिन है तो एक पत्थर की मूर्ति में ध्यान लगाना बहुत बड़ी साधना है। वह प्रस्तर-खण्ड आपको तब स्वीकार करेगा, जब आपका मन पत्थर की तरह स्थिर हो जाएगा। आपने उसे ईश्वर इसलिए माना क्योंकि वह परम स्थिर है। तो वह ईश्वर भी आपको तभी स्वीकार करेगा, जब आप स्थिर हो जाएँगे। जब आप भी ठोस घनशिला की नाईं हो जाएँगे। आपकी मानसिक व शारीरिक हलचल बन्द हो जाएगी, वह भी आपको अपना मान लेगा। **आपने उसे ईश्वर माना क्योंकि वह भगवत्ता स्थिर है। वह आपको तभी स्वीकार करेगा जब उसके साथ बैठते-बैठते आप भी पत्थर की तरह स्थिर हो जाएँगे।** यहाँ पत्थर का अर्थ जड़ता नहीं है, बल्कि स्थिरता है:–

''जिसे आँखें खुदा ने दीं, वह पत्थर में खुदा देखे,
जिसका दिल हो पत्थर, वह पत्थर में क्या देखे।''

यहाँ पत्थर-दिल जड़ता व मूढ़ता का प्रतीक है। पत्थर में खुदा देखने के लिए आपको स्थिरता चाहिए। आप उसके साथ बैठते-बैठते इतना स्थिर हो जाएँ कि वह आपको स्वीकार कर ले। जब आप स्थिर होंगे तो आपमें भी भगवत्ता प्रकट होनी शुरू हो जाएगी। आपको अनुभूतियाँ होनी शुरू हो जाएँगी। **स्थिर, किसी अस्थिर को स्वीकार कर ही नहीं सकता। उपासना, साधना, प्राणायाम, ध्यान, दान-पुण्य, यज्ञ-हवन करते-करते जब सद्‌गुरु-कृपा में इसकी Processing हो जाती है तो इसका प्रभाव प्रत्यक्ष झलकना शुरू हो जाता है।** केवल ये कृत्य ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं,

इनके साथ सद्‌गुरु-कृपा भी परमावश्यक है और यदि कृपा हो जाए तो इन कृत्यों की भी आवश्यकता नहीं है। जो स्थिर है, वही श्रद्धालु हो सकता है। सत्य को धारण करने की शक्ति के लिए महास्थिरता अपेक्षित है। सद्‌गुरु के श्रीमुख से निकले वचनों पर वह शिला की तरह अडिग रहता है। श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा, स्थिरता के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और पूर्ण स्थिरता के बिना मन का रंजन हो ही नहीं सकता।

अतः जब पत्थर की मूर्ति को पूजते-पूजते आपका मन शिला की तरह स्थिर हो जाएगा तो वह विग्रह रूपी ईश्वर भी आपको स्वीकार कर लेगा और आपकी सुषुप्त भगवत्ता आपके भीतर प्रकट हो जाएगी। **ईश्वर बहुत सुलभ है, कण-कण में व्याप्त है, लेकिन उसका प्रकाट्‌य दुर्लभ है, वह प्रकाट्‌य आपकी स्थिरता से होगा।** मनोरंजन का स्थिरता से दामन-चोली का सम्बन्ध है। हमारी इन्द्रियाँ हमें तभी सुख देती हैं, जब मन स्थिर हो जाता है। मन इन्द्रियों का राजा है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ है, उनका राजा **'मन'**। यदि मन अस्थिर है, तो आपकी इन्द्रियाँ आपको सुख नहीं दे सकतीं। मन आनन्द का स्रोत है, हमारी इन्द्रियाँ आनन्द के अबाध प्रवाह के बिना हमें सुख देने में पूर्णतः असमर्थ हैं। आनन्द से सम्पर्क टूटने पर स्वस्थ इन्द्रियाँ और भरपूर सुख-साधन भी हमें सुख नहीं दे सकते। आप कितने भी सुख-साधन एकत्र कर लें, वे सब आपके दुःख के कारण बन जाएँगे, कि मैंने इतना आलीशान बँगला बनाया है, मेरा वहाँ दिल नहीं लगता। इतने आभूषण वस्त्रादि मेरे पास हैं, पर मेरा पहनने का मन नहीं करता। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें वैराग्य हो गया है, बल्कि वे निराश व तनावित हैं, इसलिए वे सुख-साधन, उनके दुःख का कारण बने हुए हैं। वैराग्य और निराशा में अन्तर है, **वैराग्य एक महाराग है।** वैराग्य होना हँसी-खेल नहीं है, आप इतने परम आनन्द में होते हैं कि आपको किसी वस्तु का महात्म्य ही नहीं होता। दूसरा, न माया मिली न राम, न माया में मन लगता है न राम में, यह निराशा है।

संत और योगी परम ऐश्वर्यवान होते हैं, लेकिन वैरागी होते हैं। वस्तुएँ

धन्य होने के लिए, आनन्दित होने के लिए, उनका स्पर्श चाहती हैं। **योगी के दरबार में भोग नृत्य करते हैं और भोगी स्वयं भोगों के दरबार में नाचता है।** योगी, भोग भोगता है (योगी जो अपने आनन्दस्वरूप से जुड़ा हुआ है) और भोगी को भोग, भोग जाते हैं। योगी के भोग की कोई सीमा नहीं होती, क्योंकि इन्द्रियों का सुख दैहिक व सीमित है। योगी सीमित इन्द्रियों से असीम्य व देहातीत आनन्द में आ जाता है। इन्द्रियों की सीमा देह तक है और आनन्द का कोष देह से परे है। सीमित से जो भी हम भोगेंगे या एकत्र करेंगे, वह सीमित ही होगा। महत्त्वपूर्ण यह है कि आप कितना भी एकत्र कर लें, सीमित के सीमित ही रहते हैं। **ईश्वर व आनन्द असीम है, उसमें समाहित होने के लिए आपकी लगन का असीम होना परमावश्यक है।** इन्द्रियों के सुखों से आप आनन्द के कोष में कूद जाइए, कि इन्द्रियाँ जहाँ से सुख ले रही हैं, मैं वहाँ चलता हूँ। अब इन्द्रियों ने आपके ही अपने आनन्द-स्वरूप से सुख लेकर आपको दे दिया, तो जब आपका मन आनन्दमय हो जाएगा, तो इन्द्रिय सुख उसके सामने अति तुच्छ हो जाएगा। आप सीधे आनन्द में जाएँगे। मानवीय मन अस्थिर, अशान्त व अशक्त होता है, वह इन्द्रियों के थोड़े बहुत सुख से छलाँगें लगाता है। लेकिन मानवीय मन के ईश्वरीय मन में समाहित होते ही इन्द्रियाँ आपके सम्मुख नतमस्तक हो जाती हैं कि हम आपको क्या सुख दे सकतीं हैं? योगी इन्द्रियों के सुख का तो बहाना बनाता है, वस्तुतः वह इन्द्रियों के सुख के माध्यम से इन्द्रियों को कृतार्थ करते हुए आनन्दमय कोष में प्रवेश करता है।

स्थिर लोगों का मनोरंजन बड़ा अद्‌भुत और अन्य लोगों के लिए चमत्कारी होता है। वे जिस भी कार्य में लगे होते हैं, उसमें उनका मनोरंजन ही होता है, क्योंकि वे उसमें पूर्णतः डूब जाते हैं। यह सारा जगत स्थिरता से ही उत्पन्न हुआ है। स्थिरता ही सर्जनात्मकता है। यज्ञ, हवन आदि से आपका मन स्थिर हो जाता है और उस **स्थिर मानसिक स्थिति में जो भी संकल्प आपके मन में उठेगा वह सद्‌संकल्प हो जाएगा तथा बिना आपके कुछ भी कृत्य किए, आपके सम्मुख प्रकट हो जाएगा।** जो लोग

इतिहास रचते हैं, वे अपना रास्ता स्वयं बनाते हैं, वे किसी की बनाई राह पर नहीं चलते।

अस्थिर व्यक्ति मन्द-संकल्प होते हैं। वे विचार बदलते रहते हैं। उन संकल्पों की पूर्ति के लिए भाग-दौड़ करते हैं, निरर्थक भटकते रहते हैं। अस्थिर लोगों का तथाकथित मनोरंजन भी भटकना ही होता है। ऐसे लोग घर में स्वयं अपना सामना नहीं कर सकते। कभी भी, कहीं भी निरर्थक घूमते रहते हैं। विवाह-शादियों में निमन्त्रण मिलने पर अवश्य सम्मिलत होते हैं और स्वयं को तथाकथित बहुत मिलनसार व सामाजिक दिखाते हैं। वे यही सोचते हैं कि ''आज मैं कहाँ जाऊँ,'' चलो कोई बीमार है, उसे देखने हस्पताल में ही चला जाता हूँ,'' चाहे बीमार से उनका मानसिक लगाव हो या न हो। वे घर में कभी नहीं मिलते, कि उनकी मौसी के जेठ का साला बीमार हो गया, उसे देखने गए हैं। चाहे वहाँ जाकर अपना परिचय देना पड़े कि ''मैं वह हूँ''। लोग कहते हैं कि ''भाई ! बड़ी कृपा की आप आए, इतनी दूर की रिश्तेदारी भी निबाहते हैं, बहुत ही मिलनसार और सोशल हैं।'' वस्तुतः भटकने का कारण यह होता है कि उनका घर में मन नहीं लगता।

स्थिर लोगों का हर कृत्य पूर्ण होता है। वे घर, परिवार, समाज व देश सभी में परिपूर्ण होते हैं। वे प्रत्येक क्षेत्र में कोई विधा अधूरी नहीं छोड़ते, जब तक वे स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो जाते। वे हर चीज़ की तह में जाते हैं। ऐसे व्यक्ति ही इतिहास रचते हैं। औपचारिकता, दिव्यता का अनुसरण करती है। आध्यात्मिक दिव्य लोग किसी भौतिक औपचारिकता में बँधे हुए नहीं होते। शहंशाह अपना रास्ता स्वयं चुनते हैं, इतिहास के रचयिता अपना रास्ता स्वयं बनाते हैं और लोग उनका अनुसरण करते हैं।

मनोरंजन क्या है? जहाँ हम स्थिर हो जाएँ। **'जीव-ज्योति'** शीर्षक प्रवचन में मैंने वर्णन किया था कि **मेरा सबसे बड़ा मनोरंजन मेरा अपना दाह-संस्कार है।** जब आपने अपने सामने समाधिस्थ हो कर अपनी मृत देह का संस्कार होते हुए देखा तो वही एकमात्र ऐसी मानसिक अवस्था है, जिसमें आप स्वयं को अपनी देह से पृथक् देखते हैं। आप देह के समस्त

सुख, शक्तियाँ, प्राप्तियाँ, नाम, यश, सम्बन्धों, विधाओं को स्वाहा करते हैं। इसका अर्थ है कि आप देह को बहुत पीछे छोड़ आए हैं और परम आनन्दमय हैं तथा देह से देहातीत हो गए हैं। उस समय जो आपकी आनन्द की स्थिति होगी, वह अनिर्वचनीय होगी। वह स्थिति ही आपकी जीवात्मा का आनन्द है। इस आनन्दमय स्थिति में आने के लिए आपको अपनी देह से परे होना होगा, किसी भी तरह से और सब तरह से।

हमें देहाध्यास इसलिए होता है, क्योंकि हम देह के सुखों से बँध जाते हैं। हम इन्द्रियों से क्यों चिपके हुए हैं, क्योंकि हमारी सीमा ही इतनी है। हमारी प्यास सीमित है, प्राप्तियाँ व सुख भी सीमित हैं। इनको पार करके ही हम आनन्दमय कोष में प्रविष्ट होने के अधिकारी होंगे, क्योंकि आनन्द देह से परे है। अतः पुनः पुनः आप ध्यान में अपनी देह के अन्तिम सत्य, अपने सम्पूर्ण स्थूल व सूक्ष्म को अपने सामने राख की ढेरी में परिवर्तित होते हुए देखिए। उसमें से चुटकी भर राख लेकर और **अपने जन्म से पहले जब आप मात्र पंच प्राणों का पुंज, दिव्य-ज्योति के रूप में थे, उससे टिमटिमाती हुई लौ लेकर उस चुटकी भर भस्मी पर उसे लगा दीजिए। यही दीपक आपका स्वरूप है, यही जीव-ज्योति है। लौ और भस्मी का अस्तित्व अलग-अलग है। दोनों को मिला दिया तो आप अपने ईश्वर अंश, अविनाशी जीवात्मा स्वरूप की अनुभूति कर पाएँगे।** भस्मी से संसार का निर्माण पंच-प्राणों की ज्योति द्वारा होता है, वह ज्योति ही उसका पालन और संहार भी करती है। **भस्मी माया है और ज्योति ईश्वर है तथा यही जीव का स्वरूप है।** आपकी अपने इस स्वरूप में स्थिति तब होगी, जब आप अपनी देह की भस्मी से आत्मसात् हो जाएँगे। आपको माया और ईश्वरीय-ज्योति दोनों का आनन्द आएगा तथा यह आत्मरंजन ही वास्तविक मनोरंजन है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(3 नवम्बर, 2004)

दिनचर्या

प्रत्येक दिन की एक निश्चित दिनचर्या या रुटीन होता है, सुबह ब्रह्म-मुहूर्त, प्रातःकाल, मध्याह्न काल, संध्या और फिर रात्रि। पहले संध्या, फिर दोपहर और फिर प्रातः ऐसा कभी नहीं होता। हर रोज़ पहले सुबह होगी और फिर दोपहर और उसके बाद संध्या होगी। अतः प्रत्येक दिन का अपना एक निश्चित रुटीन है। लेकिन मौसम तथा प्रकृति का कोई रुटीन नहीं है। बादल कभी भी छा सकते हैं, आँधी अचानक आ सकती है, वर्षा एकाएक हो सकती है, सूर्य सारा दिन चमकता भी रह सकता है या बादलों में लुकाछिपी भी कर सकता है। **कोई भी मौसम हमें कैसा लग रहा है, यह हमारी मानसिकता पर निर्भर करता है।** इसी प्रकार हमारी देह का भी एक रुटीन है। पहले माँ के गर्भ में गर्भाधान, फिर जन्म, शैशवावस्था, युवावस्था, बुढ़ापा, मृत्यु और अन्त में पंच-महाभूतों द्वारा निर्मित यह देह पंच-महाभूतों में ही मिल जाती है और शेष रह जाती है, मात्र—**भस्मी**।

अतः हम सबकी देह का एक निश्चित रुटीन है, लेकिन हमारे जीवन का कोई निश्चित रुटीन नहीं है। जीवन कठिनाइयों में शुरू हो सकता है, सुखी व आनन्दमय हो सकता है, दुःखी, विक्षिप्त, त्रसित, भयभीत कैसा भी हो सकता है । यद्यपि हमारा सब कुछ ईश्वर के हाथ में है, देह भी उसी की है फिर भी देह का एक लगभग निश्चित सा रुटीन होता है। देह बुढ़ापे से शुरू नहीं हो सकती, लेकिन दैहिक परिस्थितियों व हमारे जीवन का कोई निश्चित रुटीन नहीं है। देह किसी अवस्था में रुग्ण हो सकती है, किसी भी अवस्था में पूर्ण स्वस्थ रह सकती है। इसी प्रकार जीवन में कभी भी कैसा भी

समय आ सकता है, जैसेकि दिन का तो रुटीन है, मगर मौसम का कोई रुटीन नहीं है। जब भी मौसम विशेष होगा उसे दिन के उस विशेष समय से जोड़ना होगा, कि आज शाम को आँधी आई, रात्रि में बारिश हुई। सुबह, दोपहर, संध्या व रात्रि तो अपने समय में बँधी हुई होंगी, लेकिन वह समय किसी विशेष मौसम के साथ बँधा हुआ नहीं होता। इसी प्रकार जीवन में विभिन्न घटनाएँ घटती हैं, उन्हें देह की उस विशेष अवस्था के साथ जोड़ना होगा जब वे घटी जैसेकि बचपन में मेरे साथ ऐसा हुआ, युवावस्था में मैं विदेश चला गया, वृद्धावस्था में मैं रिटायर हो गया आदि-आदि।

यह विषय अत्यन्त विचारणीय है कि एक विशेष दिवस में हम मानवों का कोई निश्चित रुटीन नहीं है। एक ही मानव का एक दिन का रुटीन कुछ अन्य हो सकता है, अगले दिन कोई दूसरी दिनचर्या हो सकती है। सुबह अपने समय पर ही होगी, हम सो कर उठें या न उठें। ब्रह्म-मुहूर्त आएगा, सुबह चिड़ियाँ चहचहाएँगी, मनभावन समीर चलेगी, उसका आनन्द लेने के लिए आप उठें या न उठें ! फिर दोपहर होगी, संध्या-वेला होगी, आप संध्या में पूजा-पाठ के लिए बैठें या न बैठें ! सप्ताह के दिनों का भी रुटीन है, रविवार के बाद सोमवार ही आएगा, मंगल या अन्य कोई वार नहीं आ सकता। इसी प्रकार वर्ष के महीनों का भी निश्चित क्रम है—चैत्र, बैसाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, सावन, भादों आदि। पृथ्वी 365 दिनों में सूर्य का चक्कर लगाती है। शरद, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुओं का भी अपना रुटीन है। लेकिन इन ऋतुओं में भी मौसम का कोई निश्चित रुटीन नहीं है। हम एक ऋतु में एक विशेष मौसम की आशा करते हैं। वह मौसम ऋतु के अनुरूप हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। एक ही समय में विभिन्न स्थानों पर मौसम भिन्न-भिन्न भी हो सकता है।

देह के विकास एवं ह्रास का एक निश्चित रुटीन है, देह कभी जवानी से शुरू नहीं होती। पहले बचपन, फिर जवानी, फिर बुढ़ापा यही रुटीन होता है। लेकिन जीवन का कोई रुटीन नहीं है। इसी प्रकार दिन का रुटीन है, लेकिन हमारा वह दिन कैसे बीतता है, इसका कोई रुटीन नहीं है। सुबह के

समय सुबह होगी, चाहे हमारे लिए सुबह हो न हो। हम सोकर यदि उठना न चाहें तो सुबह हमारी प्रतीक्षा नहीं करेगी कि यह सोकर उठे तो सूरज उगे। सूर्य अपने समय से ही उदय होगा। तो हमारे रुटीन में यह अनियमितता क्यों है? आप अपने दिन के रुटीन से स्वयं यह जाँच सकते हैं कि आप ईश्वर के कितने सम्मुख हैं और कितने विमुख हैं।

जीवन नवजात व अबोध शिशु के रूप में शैशवावस्था या बचपन से शुरू होता है। इसी प्रकार सुबह हमारी तन्द्रा टूटती है। हम सो कर उठते हैं, तो कुछ क्षण ऐसे होते हैं कि हमें देश, काल, परिस्थिति, स्वयं का या अपने सम्बन्धों का कुछ ज्ञान नहीं होता। हम अर्द्ध-सुषुप्तावस्था से जाग्रत होते हैं और धीरे-धीरे उठते हैं। **यही हमारे दिन की शैशवावस्था है। स्वयं में आकर हम अपने आपको सम्भालते हैं, फिर नित्यक्रिया से निवृत्त व शुद्ध हो कर अपने कार्यों में लग जाते हैं, यही युवावस्था है। शाम को हम थके-मांदे घर लौटते हैं, यही बुढ़ापा है और फिर निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं, यानि हम सो जाते हैं। आप एकाग्र करके एक दिन के जीवन पर विचार करिए। पूरे दिन में भी आपकी देह का व्यवहार वही होता है जो कि पूरे जीवन-काल में आपकी देह का होता है।** अब आपका व्यवहार क्या है? क्या आप दिन के रुटीन से बँधे हैं या मनमर्ज़ी से जीवन बिता रहे हैं। **हमारा प्रतिदिन का जो रुटीन अक्सर रहता है, वही वास्तव में हमारा जीवन है।** जैसेकि हमें किसी मकान की गुणवत्ता को जाँचना हो तो हम उसकी एक ईंट से पता कर सकते हैं। एक ईंट की जो गुणवत्ता होगी, वही सारे मकान की भी होगी।

प्रत्येक दिन हमारे जीवन की एक इकाई है। प्रत्येक दिन हमारे भावों, विचारों, बाह्य परिस्थितियों व मानसिक स्थितियों में अन्तर होता है। असंख्य बाहरी, भीतरी चीज़ें हमारे मानस को प्रभावित करती हैं, परिवर्तित करती हैं। इन्हें हमारा मानस रूपान्तरित करता है। इन सबके बीच मेरी दिनचर्या क्या है? सुबह यदि बारिश हो रही है, होने दो, उस समय मेरा क्या रुटीन है? जब तक कि वह मौसम मेरी दिनचर्या में बाधक नहीं बनता,

उससे मुझे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अनेक बार परिस्थितियों के वश हमें अपने कार्यक्रम बदलने पड़ते हैं, स्थगित करने पड़ते हैं, क्योंकि हरेक की दिनचर्या का एक पैटर्न होता है। रात को सोते समय हमें अपने उस पूरे दिन के रुटीन का स्वयं ब्यौरा लेना चाहिए। यह मानवों के लिए नितान्त आवश्यक है, पशुओं को ईश्वर ने यह विवेक नहीं दिया है। हम प्रभु के दरबार में, यज्ञ-हवन के सम्मुख या जैसी भी जिसकी रुचि है, संध्या के समय बैठकर अपने उस पूरे दिन की दिनचर्या पर विचार करें। अपनी मानसिक स्थिति का आकलन करें और अगले दिन सुबह उठकर पुनः प्रभु से प्रार्थना करें।

दिन का आलम क्या होगा, हमें कुछ भी नहीं मालूम है, क्योंकि पूरे दिन का मेरा रुटीन पूरी तरह से ईश्वर के हाथ में है। महत्त्वपूर्ण यह है कि मैं उस रुटीन को किस मनोभाव में व्यतीत करता हूँ। क्या मैं उस दिनचर्या को आनन्द में गुज़ारता हूँ? कुछ भी खोना या पाना यह हमारी दिनचर्या नहीं है। हमारी दिनचर्या से तात्पर्य है कि हमारी मानसिक स्थिति कैसी है? जिस प्रकार दिन का एक रुटीन होता है, उसी प्रकार रात्रि का भी एक रुटीन होता है। संध्या होती है फिर अंधेरा बढ़ता जाता है, फिर रात्रि के बाद घोर रात्रि, मध्य रात्रि, उसके बाद धीरे-धीरे ब्रह्म-मुहूर्त, फिर पौ फटती है, उषाकाल, फिर सूर्योदय आदि-आदि। जैसे दिन के जीवन का कोई रुटीन नहीं है, उसी प्रकार रात्रि के जीवन का भी कोई रुटीन नहीं होता। कभी निद्रा आ सकती है, कभी नहीं आ सकती। कभी बहुत आनन्दमयी निद्रा आ सकती है, कभी कष्टमयी निद्रा आ सकती है। कभी आनन्दपूर्ण स्वप्नमयी निद्रा आ सकती है, कभी विक्षिप्त स्वप्नों की निद्रा आ सकती है। **ऐसा इसलिए है क्योंकि दिन और रात का तो अपना रुटीन है लेकिन हमारी मानसिक व बौद्धिक स्थितियों का कोई रुटीन नहीं होता।** हमारी कर्मेन्द्रियों के कर्मों का कोई रुटीन नहीं है।

हम दिन के मौसम का जायज़ा एक नियन्त्रित स्तर से लेते हैं। उदाहरणतः आकाश की सहज स्थिति है कि वह स्वच्छ, निर्मल, नीलिमामय

और उज्ज्वल होता है। उसका रुटीन बदलेगा तो कभी उसमें बादल छा सकते हैं, वर्षा हो सकती है। वह आँधी या धूल से भर सकता है, उसमें इन्द्र-धनुष खिल सकता है, कभी गहन काले मेघ छा सकते हैं या सूर्य बिल्कुल लुप्त हो सकता है। लेकिन आकाश का मूलतः स्वरूप निर्मल, नीला, स्वच्छ ही है। **बाहरी परिस्थिति से आकाश अपना स्वरूप नहीं बदलेगा, थोड़ी देर के लिए वह आच्छादित हो सकता है। वह आँधी व धूल से भरा मैला लग सकता है, लेकिन उसका सहज स्वरूप वैसा ही निर्मल और उज्ज्वल रहता है।** जब हम मौसम को देखते हैं, तो उसके साथ हमें आकाश की स्वच्छता व निर्मलता को अपने समक्ष रखना पड़ता है और उसकी सापेक्षता में मौसम के विषय में बताना होता है। यदि हम कहते हैं कि आज आकाश में घने बादल हैं, इसका अर्थ है कि हमें मेघ रहित निर्मल, नीलिमामय, सुन्दर आकाश का ज्ञान है। जिसने कभी स्वच्छ आकाश देखा ही नहीं, उसके लिए घने बादल छाने का क्या महात्म्य होगा। इसी प्रकार हम कहते हैं कि आज ठण्डी बयार चल रही है, तो इसका अर्थ है कि हम रुटीन में चलने वाली वायु से परिचित हैं। **हम सुबह शाम ईश्वर के ध्यान में क्यों बैठें ? क्योंकि हमें अपने मानस के उस सशक्त, शान्त, स्थिर व निर्मल स्वरूप का ज्ञान होना परमावश्यक है, नहीं तो हम पशुवत् जीवन व्यतीत करेंगे।** ईश्वर के ध्यान के समय आपका मानस शून्य की स्थिति में आ जाए। आपकी आँखों से ईश्वरीय प्रेम के विशुद्ध अश्रु बहने लगें। आपको किसी से कोई ईर्ष्या, द्वेष, वैर, वैमनस्य न हो। आपका मन रूपी आकाश सशक्त एवं परम मुदिता से परिपूरित हो जाए। इसके लिए आपको अपने निर्मल, अनाच्छादित, स्वच्छ, उज्ज्वल मन रूपी आकाश का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। अन्यथा आप स्वयं के बारे में कभी नहीं जान पाएँगे तथा निर्णय नहीं कर पाएँगे कि आपका मानस कैसे प्रदूषित हुआ। दिन में आपको खेलना है। पूरे दिन में आपके मन रूपी आकाश में कई मौसम बदलेंगे। यदि आपको आकाश की निर्मलता, स्वच्छता व उज्ज्वलता का ज्ञान ही नहीं है, तो आपके लिए आकाश में बादल छाए हों,

कोहरा हो, आँधी हो, सूर्य चमकता हो सब एक जैसा ही है। इसी प्रकार अपने मानस के स्वच्छ स्वरूप के ज्ञान से ही हम हर्ष, उल्लास, विषाद, भय, विक्षेप रूपी बदलते हुए मौसम के विषय में निर्णय ले सकते हैं। सुबह के समय ईश्वर के ध्यान में बैठ कर ही हम अपने मानस को उस शून्यावस्था पर ला सकते हैं।

आज सुबह मेरे मानस की स्थिति क्या थी? जब आपका मन ईश्वरीय-मन में समाहित हो जाए, वही आपके मानस की सहज मूल स्थिति है। जैसाकि नवजात शिशु बिना नाम-रूप के स्वच्छ एवं निर्मल मानस लिए होता है। वह महाचेतना के साथ जुड़ा हुआ होता है और स्वयं में ईश्वर की ही तरह देशातीत, कालातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत व त्रिगुणातीत होता है। अतः सुबह आपका मानस ऐसा सहज, निर्मल, शिशुवत् होना परमावश्यक है, जहाँ पर आप किसी वस्तु से सम्बद्ध नहीं हैं, जैसाकि स्वच्छ, निर्मल, उज्ज्वल, नीला आकाश होता है। **अब पूरे दिन जो भी हमारे इस निर्मल आकाश रूपी मन में मौसम रूपी विभिन्न मानसिक स्थितियों का बदलाव आया, उसे आप संध्या के समय पुनः देव-दरबार में बैठकर देख सकते हैं। अपने मानस रूपी आकाश को पुनः शून्य वाली स्थिति में ला सकते हैं।** कभी भी शाम और रात को टीवी न देखें, बल्कि प्रभु का नाम लेते हुए कोई सुन्दर कथा-कहानी पढ़ते हुए सो जाएँ। यदि आप रात को टीवी देखकर सोएँगे तो रात में आपको कभी अच्छी निद्रा नहीं आ सकती। आपका मानस तनावित रहेगा, अतः कम से कम सोने से दो घण्टे पहले आप टीवी न देखें। सोते समय आपका मानस वैसा ही निर्मल व स्वच्छ होना चाहिए जैसाकि प्रातः उठते समय था।

यह दिनचर्या मानवों की है, पशुओं या मानव देहधारी पशुओं की दिनचर्या नहीं हो सकती। रात्रि का समय दिन के समय से आपके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। जब आप जाग्रत होते हैं, उसमें आपकी भौतिक व बौद्धिक तद्‌रूपता अवश्य होगी लेकिन जब आप सो जाते हैं तो आपकी बौद्धिक सम्बद्धता नहीं रहती। जागृति में यदि आपकी भौतिक तद्‌रूपता व

सम्बद्धता होगी तो उसका आपको ज्ञान होगा, क्योंकि आप जाग्रत हैं। आप प्रभु से क्षमा माँग सकते हैं, आत्म-निरीक्षण कर सकते हैं, प्रार्थना कर सकते हैं व स्वयं का संशोधन कर सकते हैं। सुबह देव-दरबार में आपने अपने स्वच्छ, निर्मल, उज्ज्वल मानस का दिग्दर्शन कर लिया है तो आपको जागृति में यह ज्ञान अवश्य हो जाएगा कि आपका मन कितना प्रदूषित हो गया है। सुबह तो मैं बड़े आनन्द में उठा था, पता नहीं कैसे मेरा मन खराब हो गया, तो आप कारण खोज कर इसका कोई न कोई उपाय अवश्य कर सकते हैं। लेकिन रात्रि में आपका चार या पाँच घण्टे का जो शयनकाल है, उसमें आपकी बुद्धि की सक्रियता व सम्बद्धता नहीं रहती। उस समय आनन्दमय कोष में जीवात्मा की प्रविष्टि होती है। यदि आप विक्षिप्त मानस से रात को सोते हैं, टीवी पर उतपटांग कार्यक्रम देखकर सोते हैं, तो उस समय आप तथाकथित निष्क्रिय होते हैं, लेकिन आपके मानस के भाव निष्क्रिय नहीं होते।

आपके प्रारब्ध में चाहे दिन के जगत का अंकन हो न हो, लेकिन रात्रि के जगत का अंकन अवश्य होगा। हमारे द्वारा किए गए कृत्यों का जब तक हमारे मानस पर असर नहीं होगा, तब तक पुण्य या पाप का तो प्रश्न ही नहीं होता। कोई आपको दस बातें कह दे, जो बात आपके मन पर असर करेगी, वही आपको प्रभावित करेगी। हमारे जितने भी भौतिक कृत्य हैं, वे सब हमारे मानस से बाहर प्रकट हुए हैं। जैसेकि हमारा मन हुआ कि हम हवन करें, तो मानस का भाव हवन के रूप में बाहर प्रकट हुआ और हवन का प्रभाव मानस पर पड़ेगा। **जगत भीतर से बाहर प्रकट हुआ है–'जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे' और बाहर का जगत भीतर को प्रभावित करता है, तो वह प्रभाव आपके मानस के भाव के अनुसार आप पर पड़ेगा।** यज्ञ, हवन, दान, पुण्य, जप, तप, प्राणायाम आदि जितने पुरुषार्थ कर्म हैं, वे सब कृपा-साध्य हैं। ईश्वर व सद्‌गुरु की कृपा से ही होते हैं। ईश्वरीय-कृपा से हवन हो गया। लेकिन उस हवन का आपके मानस पर प्रभाव आपके मानस के भावों के अनुसार होगा। यह सब कृपा-साध्य है। आप हवन में बैठे हैं तथा आपका मन कहीं और है

तो उस हवन और कैम्प फायर में आपके लिए कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। आप किसी धार्मिक आयोजन या सत्संग में सम्मिलित हुए हैं, किसी महापुरुष के दर्शन का सौभाग्य मिला है, यह ईश्वर-कृपा से हो गया, परन्तु इसका लाभ आप अपने भावानुसार ही उठा पाएँगे। **कई बार आपके मानसिक भाव कृपा में बाधक बन जाते हैं।** सूर्य की किरणें अपना प्रकाश विकीर्ण कर रही हैं और आप अपना छाता खोल कर बैठ गए तो आप उस प्रकाश का लाभ नहीं ले पाएँगे। आपने स्वयं अवरोध खड़ा कर दिया।

जब तक कोई वस्तु हमारे मानस को प्रभावित नहीं करेगी तब तक आपके जीवन में तद्नुसार परिवर्तन नहीं आएगा। किसी को आप हज़ार बार समझा दीजिए, जब तक बात उसके मन को नहीं जँचेगी तब तक उसका प्रभाव सम्मुख नहीं आएगा। यदि आपका मानस प्रातः काल प्रभु के ध्यान से स्वच्छ व निर्मल हो गया है तो दिन भर में जो उसमें थोड़े बहुत परिवर्तन आए हैं, संध्या के समय पुनः आपका मानस निर्मल हो जाएगा, क्योंकि रात्रि में आपका निर्वाण हो जाता हैः—

'आग़ाज़ को कौन पूछता है, अन्जाम अच्छा हो ज़िन्दगी का।'

दिन का प्रातःकाल आपका आग़ाज़ है और संध्या आपका अन्जाम। सुषुप्ति से पहले की आपकी मानसिक स्थिति ही आपका अन्जाम है। जीवन भर कोई व्यक्ति आनन्द में रहे, मृत्यु के समय उसको कोई घर या परिवार का तनाव उत्पन्न हो जाए तो उसकी मृत्यु उसे अधोगति में ले जाएगी। हम जितना भी कारोबार, व्यापार, धर्म, कर्म, जप, तप कर रहे हैं, उसमें यह ध्यान अवश्य रखना कि आपकी रात्रि की निद्रा में कोई व्यवधान न पड़ जाए। जिसका कारोबार, व्यापार उसके तन्त्रिका-तंत्र पर सवार हो गया, उसका जीवन और मृत्यु दोनों ही तनावित रहेंगी।

पचास वर्ष के बाद हमारी संस्कृति में वानप्रस्थ का विधान है, क्योंकि उसके बाद हमारे निर्वाण का समय पास आ जाता है। पिछले पच्चीस वर्षों में जिस व्यापार व कारोबार को आपने विकसित किया है, उससे मुक्त होने में एक साधारण व्यक्ति को पच्चीस वर्ष लग जाते हैं। एकाएक जब आप

रिटायर होते हैं तो इसे भूलने में आपको कई वर्ष लग जाते हैं। इसलिए संध्या के बाद कोई काम नहीं करना चाहिए। रात्रि में आपके निर्वाण का समय होता है। **संध्या में यज्ञ, हवन, प्रभु का ध्यान इसलिए आवश्यक है कि दिनभर के विभिन्न बदलते मौसमों के बाद आपका मन रूपी आकाश प्रातः की भाँति पुनः स्वच्छ हो जाए।**

जिस मानसिक भाव को लेकर आप सोएँगे, आपकी सुषुप्ति व स्वप्न-सृष्टि में वही भाव प्रधान रहेंगे। जब भी कोई प्रारब्ध बनता है, वह मानस-भावों से ही बनता है। जैसेकि एक व्यक्ति किसी की हत्या कर दे तो वह पापी कहलाता है और यदि युद्ध में शत्रु को मार दे तो उसे मैडल मिलते हैं। कर्म महत्त्वपूर्ण नहीं है, कर्म के पीछे आपकी वृत्ति या आपकी नीयत महत्त्वपूर्ण है। जिस मानस को लेकर आप सुषुप्त होंगे उस मानस का अंकन प्रारब्ध के रूप में होगा, क्योंकि प्रारब्ध रात को ही बनता है। हवन आदि प्रकरणों का बहुत महात्म्य है। आप अपने समस्त प्रदूषित विचारों, भावों को जला दीजिए, स्वाहा कर दीजिए। किसी के प्रति राग, द्वेष, वैर, क्रोध आदि लेकर मत सोइए। यदि सोएँगे तो सुबह उठते ही पहले वह बात आपके दिलो-दिमाग में आएगी तथा आपके अगले दिन की दिनचर्या अस्त-व्यस्त हो जाएगी। इसलिए सुबह यदि कोई ऐसी बात है तो अपने मन को बिना निर्मल किए प्रभु-दरबार से मत उठिए। जो चीज़ अगले दिन प्रातः उठते ही आपको तनावित करने लगी तो समझो वह प्रारब्ध बन गया। **अतः सोते समय मन निर्मल करके सोइए और उठते समय मन को स्वच्छ, सहज करिए, आपका आजीवन प्रारब्ध नहीं बनेगा।** आपका मन ईश्वरीय मन में समाहित रहे, इसके लिए आपके मन का स्वच्छ, निर्मल तथा भावों व विचारों के प्रदूषण से अनाच्छादित होना परमावश्यक है।

आपका मानस यदि निर्मल व स्वच्छ नहीं है तो, कारोबार या नौकरी पर मत जाइए, आपके बिना कोई सांसारिक कार्य रुक नहीं जाएगा। आपके लिए अपने मानस को निर्मल, शुभ्र करने से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई कार्य नहीं है। निर्मल मन से दिनचर्या शुरू करेंगे तो पूरे दिन आनन्द ही आनन्द

रहेगा। कभी भी विक्षिप्त मन से जीवन व्यतीत नहीं करना। हमें जीवन में एक-एक पल का आनन्द लेना है, जिसके लिए शुद्ध सच्चिदानंद-स्वरूप ईश्वरीय मानस का होना परमावश्यक है। निर्मल मन से उठिए, आपको यह प्रतीत हो कि प्रभु आज न जाने मुझे क्या खेल दिखाएँगे। आप अपना कोई कार्यक्रम मत बनाइए, कार्य तो कभी समाप्त नहीं होंगे। यदि आप समझते हैं कि सेवानिवृत्त होने के बाद आप मुक्त हो जाएँगे तो यह भूल है। **आपके मानस पर आपकी नौकरियों, व्यापार, कारोबार आदि का जो प्रभाव पड़ा है, वह सेवानिवृत्त होने के बरसों बाद तक जीवन्त बना रहता है।** नौकरी या व्यापार के दौरान आपके मानस पर जो-जो प्रभाव पड़े हैं, उनका दिग्दर्शन सेवानिवृत्त होने के बाद होता है और ये मृत्यु-पर्यन्त जीवन्त बने रहते हैं। आपने कार्यकाल कैसा बिताया है, इसका प्रभाव सेवानिवृत्त होने के बाद दिखाई देता है।

रिटायर होने पर यदि तनावित हो गए तो इसका अर्थ है कि नौकरी के दौरान भी आप तनावित ही रहे हैं। आपने अवश्य ही अहं से कृत्य किए हैं। आप अपनी नौकरी का एक दिन लेकर चलिए, सुबह नौकरी शुरू की और संध्या को सेवा-निवृत्त हो गए। पूरे दिन की नौकरी का प्रभाव संध्या के समय आपके मानस पर होगा। इसी प्रकार पूरा जीवन, जो आपने नौकरी या व्यापार किया है, इसका प्रभाव सेवा-निवृत्त होने के बाद ही आएगा। जब तक हम घर बैठे हैं, हमें घर का कुछ भी याद नहीं आता, लेकिन जब घर छोड़ेंगे तो एक-एक सुई तक याद आएगी। किसी भी वस्तु को छोड़ने के बाद उसकी जितनी याद आपको आती है, उतनी जब वस्तु आपके पास होती है, तब नहीं आती। यदि उसे छोड़ने के बाद याद नहीं आती तो जीते जी आप निर्वाण की अवस्था में हैं। आप जहाँ बैठे हैं, वहीं आनन्द हो जाता है, तो समझो आप मोक्ष की स्थिति में हैं।

अतः रात्रि का जीवन, दिन के जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उस समय जो भाव होंगे वे प्रारब्ध बनाएँगे और सुबह उठते ही वे भाव आपको तनावित करेंगे। आपका दिन रुटीन में ही होगा, सुबह, दोपहर, शाम और

रात्रि, लेकिन आपका मानस अवश्य अस्त-व्यस्त हो जाएगा। यदि आप प्रातःकाल किसी लोभ या लालच में उठते हैं तो वह लोभ आपको खा जाएगा। प्रातःकाल आपको मात्र अपने सच्चिदानंद शुद्ध निर्मल स्वरूप का लोभ हो, यदि आप उसके सम्पर्क में हैं तो सारे ब्रह्माण्ड में जितनी धन-सम्पदा है, वह सब आपके लिए है। अतः प्रातःकालीन और संध्याकालीन, दो संध्याओं में अपने मानस को आकाश की भाँति निर्मल व स्वच्छ कर लें, आपकी पूरी दिनचर्या आनन्दमय होगी। आप पूरा दिन हर्ष व उल्लास से भरे रहेंगे।

रात्रि को सोने के बाद आपने जैसा दिन बिताया है, उसके अनुसार आपका मानस जाग्रत होता है। रात को आप अपनी देह व देह पर आधारित समस्त जगत को छोड़ देते हैं, बुद्धि प्रायः निष्क्रिय हो जाती है, लेकिन आपका मानस सक्रिय ही रहता है। अतः मानस को निष्क्रिय करके ही सुषुप्ति में जाएँ। इसलिए संध्या व रात के समय टीवी मत देखिए, फिल्में मत देखिए। शुभ पुस्तकें पढ़िए, प्रवचन सुनिए ताकि आपका मन शान्त हो। शास्त्रकारों ने संध्या के बाद किसी भी कार्य का निषेध किया है। मानस जिस स्थिति को लेकर सुषुप्ति में गया, उसका अंकन प्रारब्ध के रूप में अवश्य होगा और सुबह उठते ही वह आपके सम्मुख उसका परिणाम रख देगा। इसी प्रकार अगले जन्म में भी होगा। उस व्यक्ति का बचपन वैसा ही होगा जैसा वह पिछले जन्म से लेकर आया है। सुबह उठते ही यदि आपको कोई चीज़ विदीर्ण कर रही है तो मानो आप आगे के लिए विदीर्णता ही बो रहे हैं। अगले जन्म में भी ऐसा ही होगा। अतः आप रोज़ अपने मन को स्वच्छ करके सोइए, ताकि आप सुबह हर्ष, उल्लास व आनन्द में उठें कि "प्रभु ! आज बहुत सुन्दर दिन आपने मुझे दिया है, नई देह दी है, मुझे नहीं मालूम आज क्या करना है। आप ही मुझे सद्कर्मों की ओर प्रेरित करें।" सोते समय यह भाव हो कि "प्रभु ! सारा दिन आपने जो करवाया बहुत सुन्दर करवाया।" आप शिशुवत् प्रभु की गोद में सिर रखकर सो जाएँ। इस प्रकार प्रत्येक दिन आनन्द में बिताइए, पूरा जीवन इसी प्रकार व्यतीत हो।

यहाँ क्या पाना है और क्या खोना है? जो कुछ तथाकथित पाया है, वह भी यहीं रह जाएगा और जो खोया है तो अपना यहाँ क्या है, जो खो गया। यही नित्याध्यासन है, यही पुरुषार्थ है। लोग कहते हैं कि प्रभु का नाम हम बुढ़ापे में लेंगे, भूल जाइए, ऐसा हो ही नहीं सकता। पूरे जीवन आपके मानस पर जो अंकित हो चुका बुढ़ापे में उसी में मानव उलझ कर रह जाता है। इसलिए हर दिन रोज़ का हिसाब-किताब साफ करके सोइए। धन-दौलत कमाओ, न कमाओ, नौकरी करो न करो परन्तु रोज़ अपने मानस को निर्मल व स्वच्छ अवश्य करते रहिए। हर सुबह उठने के बाद यह भाव हो कि ''हे प्रभु ! नौकरी पर ले जाओ तो ठीक, न ले जाओ तो ठीक है।'' सोते समय फिर यह भाव हो कि ''प्रभु कोई काम नहीं है, बस आनन्द है।'' यह काम रोज़ करना है, आपके मानस में अगले दिन के लिए कोई काम न हो। एकदम से 50 वर्ष की आयु के बाद काम बन्द नहीं कर सकते। रोज़ ऐसा भाव रखते-रखते संतों की कृपा से, प्रभु-कृपा से 50 वर्ष की आयु के बाद आप कार्यों से मुक्त हो सकते हैं, ताकि वे सारे प्रभाव आपके मानस से निकल जाएँ। दिन में रोज़ प्रभु जो खेल खिलाएँ, खेलिए, मगर सोते हुए सबका पटाक्षेप कर दीजिए।

हर दिन उठते समय यह भाव हो कि ''प्रभु ! आज मेरे लिए आपकी क्या सृष्टि है ?'' क्योंकि दिन का तो एक रुटीन है—प्रातःकाल, मध्याह्र, संध्या व रात्रि, मगर मौसम का कोई रुटीन नहीं है। तो प्रत्येक दिन के मौसम के रुटीन का ज्ञान आपको आकाश की स्वच्छता एवं निर्मलता के ज्ञान से ही होगा। इसलिए सुबह उठकर जब ईश्वर को समर्पित होंगे तो जो पिछले दिन का मानस पर बोझ हो, उसे ईश्वर समर्पित हो कर हटा दीजिए। लेकिन अक्सर ऐसा हो नहीं पाता। हमारा मानवीय मन भूत और भविष्य के बोझों को ढोए रहता है और हमारा वर्तमान आच्छादित हो जाता है। उस बोझिल मन को लिए हुए प्रातःकाल हमारी तन्द्रा टूटती है, वह बोझिल मन निर्धारित करता है कि उस दिन हमारी स्थिति क्या होगी?

प्रत्येक दिन हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग होता है। दिन, तिथि एक

ही होती है, लेकिन सबके लिए उस दिन का जीवन पृथक्-पृथक् होता है। एक ही व्यक्ति एक ही ऑफिस में रोज़ जाता है, लेकिन कभी भी उसके दो दिन एक जैसे नहीं होते। दिन और दिनचर्या में अन्तर है, दिन की दिनचर्या इस पर निर्भर करती है कि हमारा मानस भूत या भविष्य के द्वारा कितना बोझिल है। अक्सर हम एक बोझिल मन को लिए हुए बिस्तर छोड़ते हैं और बोझिल मन के साथ ही बिस्तर पर जाते हैं। इसी प्रकार हम बोझिल मानस को लिए ही पैदा होते हैं और उसी बोझिल मन के साथ ही मरते हैं। **इसलिए प्रत्येक दिन सोते समय और प्रातः उठते समय प्रभु से प्रार्थना करनी है कि ''प्रभु ! मुझे इस धन-सम्पदा से कुछ लेना-देना नहीं है, यह देह भी आपकी है, प्रभु ! मुझे नहीं पता आपने मुझे क्यों दी है? लेकिन प्रभु ! तुम कहाँ हो?'' आप प्रभु-प्रेम के अश्रुओं से सराबोर होकर कह उठें कि ''प्रभु ! जो तुम करवा दो वही मेरा कर्तव्य है। लेकिन मुझे फँसाना मत, तुमने ये कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की सम्पदा मात्र मेरे लिए ही तो बनाई है, मुझे कुछ भी ऐसा न देना कि मैं तुमसे विमुख हो जाऊँ।''** किसी भी तरह से अपने सहज, मूल आनन्दमय स्वरूप को जाग्रत करना ही आज के दिन देह धारण करने का अर्थ होना चाहिए। मेरा वह आनन्दस्वरूप लुप्त नहीं हुआ, बल्कि सुषुप्त व आच्छादित है। यदि मैं भूत के शोक और भविष्य की चिन्ताओं से घिरा हुआ उठा हूँ तो उस दिन का कोई कृत्य, कोई खोना या कुछ भी पाना मुझे आनन्दमय कर नहीं सकता।

प्रत्येक अनुशासन, मर्यादा, धर्म, कर्म, सोच, भाव, विचार और कृत्य का एक ही लक्ष्य हो कि आपका आनन्दस्वरूप जाग्रत हो। **यदि आनन्दस्वरूप जाग्रत नहीं हुआ तो आपका वह दिन निरर्थक बीत गया। यह दिन आपके जीवन में अन्तिम दिन है और क्या पता वही आपके जीवन का अन्तिम दिन भी हो। यह विचार आते ही आपके भविष्य का बोझ तो तुरन्त गिर जाएगा क्योंकि भविष्य रहेगा ही नहीं। बस, आज का दिन रहेगा। आपका आनन्दस्वरूप वर्तमान में ही छिपा है, जो भूत और भविष्य से आच्छादित हो जाता है। इस प्रकार जीवन को आप उत्सव की**

भाँति मनाएँगे और आपकी दिनचर्या सब प्रकार से आनन्दमय ही रहेगी। आप इस मान्यता को ईश्वर से अनुमोदित करवाएँ कि ''प्रभु ! आपकी कृपा से मैं यह जान गया हूँ कि आज का दिन मेरे जीवन-काल में अन्तिम दिन है। मैं आपकी कृपा से, आपकी शक्ति से इसे मनाना चाहता हूँ। आज की देह जो आपने मुझे दी है, यह कल नहीं थी और कल होगी भी नहीं।'' आज की देह जितने साल, जितने दिन की है, कल यह एक दिन कम थी और आने वाले कल में यह एक दिन ज्यादा होगी। तो आपने देह को भी मान्यता दी और आज के दिन को भी मान्यता दी, कि बस आज का ही दिन है। ''आज जो देह मुझे मिली है, उसे मैं इस्तेमाल करना उसी प्रकार नहीं जानता जैसेकि आज तक नहीं जानता था। अतः प्रभु ! यदि मैं इसे इस्तेमाल करना, सीखने लग गया तो सारा दिन इसी में बीत जाएगा। प्रभु ! यदि आप मुझे सिखाते भी हैं कि मैं इस देह का प्रयोग आज के दिन कैसे करूँ तो मेरा दिन निकल जाएगा। मुझे अगर आप सुधारना चाहेंगे तो मेरा दिन सुधरने में ही निकल जाएगा। तो जैसा भी आपने मुझे बनाया है और यह देह दी है, मुझे आनन्द है। इसलिए प्रभु ! आप मेरी ओर से इसका प्रयोग करिए। प्रभु ! आज का दिन, आपने जनवा दिया है कि मेरे जीवन-काल में अन्तिम दिन तो है ही, यह मेरे जीवन **का** अन्तिम दिन भी हो सकता है, इसलिए हे प्रभु ! मैं इसके एक-एक क्षण का भरपूर आनन्द ले सकूँ ऐसी कृपा करो।'' यह प्रार्थना बिल्कुल सही और सटीक प्रार्थना होगी और ईश्वर उसी समय आपके उस दिन की बागडोर अपने हाथ में ले लेंगे। वैसे तो आपके हाथ में कुछ है भी नहीं, आप व्यर्थ ही अपना क़ब्ज़ा जमाए बैठे हैं। मायावश, लोभ, काम, मोह, अहंवश जीवन के सहज आनन्द में बाधा बने हुए हैं। अरे ! रस्सी के एक छोर को हाथी अपनी ओर खींच रहा है और दूसरे छोर से चूहा अगर अपनी ओर खींचना चाहेगा तो चूहा उस प्रयास में अपने घुटने तो रगड़वा ही लेगा, लेकिन फिर भी जाएगा उधर ही जहाँ हाथी चाहता है। तो चूहा क्यों न हाथी की पीठ पर सवार हो जाए और दिन भर हाथी की सवारी का आनन्द ले।

आपकी यह दृढ़ मान्यता हो जाए कि आज का दिन हर प्रकार से आपके जीवन में अन्तिम दिन है और आपके जीवन का अन्तिम दिन भी हो सकता है। आज की देह आपकी नई है, कल यह नहीं थी और आज के बाद यह नहीं रहेगी। यदि आपकी ये दो मान्यताएँ दृढ़ता से हो जाएँ और इसी मान्यता के साथ आप अपना प्रत्येक दिन उत्सव की तरह से मनाएँ तो आपका भूत और भविष्य का बोझ तुरन्त उतर जाएगा। वर्तमान में आपका वह परम आनन्दमय शुद्ध स्वरूप दैदीप्यमान हो जाएगा तथा आपका सम्पूर्ण जीवन ही महोत्सव बन जाएगा।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(7, 8, 9, 10 नवम्बर, 2004)

आत्म-विश्लेषण

आज आप समस्त परम जिज्ञासुओं के सम्मुख इष्ट-प्रेरणा से मैं **'आत्म-विश्लेषण' (Self Analysis)** जैसे गहन विषय पर प्रकाश डालूँगा। आप सबकी गहन एकाग्रता अति वाँछनीय है। मैं अपने विभिन्न प्रवचनों में इंगित कर चुका हूँ कि उस सर्वशक्तिमान सच्चिदानंद परमात्मा देवाधिदेव महादेव की कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों की संरचना में परमोत्कृष्ट व अति विलक्षणतम् कृति **'मानव-देह'** है, जो हमें परम सौभाग्यवश मिली है। मानव-देह पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश–इन पंच निराकार महाभूतों का साकार संगम है। यह स्वयं में एक बहुत बड़ा शास्त्र है। इसे हमने इष्ट-कृपा से **'देह महापुराण'** की संज्ञा दी है।

हम मानव, यह नहीं जानते कि यह देह हमें कब, क्यों, कैसे मिली और कब, क्यों और कैसे जाएगी। साथ ही नाम-रूप की चेतनता में आते ही अहंवश इसे ही हम अपना स्वरूप समझ लेते हैं। हमारी दिव्य बुद्धियाँ विवेक, मेधा, प्रज्ञा व ऋतम्भरा आच्छादित हो जाती हैं और हम देह पर अपना अनधिकृत अधिपत्य कर लेते हैं। समय आने पर पंच-महाभूतों का यह साकार पिण्ड पंच निराकार महाभूतों में ही पुनः विलीन हो जाता है। मेरी 'मैं' जीवन पर्यन्त मात्र अपनी देह के नाम-रूप तक सीमित रहती है। देह नश्वर व क्षण-भंगुर है। यह आदि, मध्य व अन्त से बँधी हुई सतत् परिवर्तनशील है। यह विभिन्न अवस्थाओं, परिस्थितियों, सम्बन्धों, स्थान, देश, काल, रूप, विधाओं, धर्मों, कर्मों, कर्तव्यों, पापों, पुण्यों, शुभ, अशुभ, मयार्दाओं, आचार-व्यवहार व माया के तीनों गुणों में विचरती है। यह मानव-देह स्वयं में

बहुत बड़ा रहस्य है। आज कुछ क्षणों के लिए आप अपनी इस भौतिक देह में उतर कर, इसके नए आयामों का दिग्दर्शन करिए और देह के रूप में अपना विश्लेषण करिए।

भौतिक रूप से हमारा प्रारम्भ जन्म से होता है। लेकिन देह के रूप में यदि हम स्वयं को अपने जन्म से पहले ले जाएँ तो पाएँगे कि इस आरम्भ का भी एक आरम्भ है। जब एक अति लघु व सूक्ष्म भ्रूण रूप में हम अपनी माँ के गर्भ में आए, वह **भ्रूणावस्था** ही वस्तुतः हमारी देह का प्रारम्भ है। इस भ्रूण को कोई भी अपनी आँखों से देख नहीं सकता, इसे देखने के लिए इलैक्ट्रोन माइक्रोस्कोप चाहिए। वह निश्चित तौर पर हमारी एक अवस्था है, जिसके बाद हम लगभग नौ महीने माँ के गर्भ में बिताते हैं। अतः गर्भावस्था हमारी दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में हमारा कोई नाम-रूप नहीं होता, लेकिन निश्चित ही वह हमारी एक अवस्था है। फिर हमारा **जन्म** होता है, **शैशवावस्था** व **बाल्यावस्था** होती है। हमारा बचपन आता है, फिर **युवावस्था** आती है, जो प्रौढ़ावस्था आते ही समाप्त हो जाती है। फिर **वृद्धावस्था** के आने पर **प्रौढ़ावस्था** भी चली जाती है। **वृद्धावस्था** के बाद **मृतकावस्था** और बाद में अन्तिम अवस्था होती है—**मृत्तिकावस्था,** जब हमारी देह की भस्मी बन जाती है। उस भस्मी या मिट्टी का कोई कुछ भी संस्कार कर दे, उसके बाद सारी कहानी समाप्त हो जाती है। **भ्रूणावस्था, गर्भावस्था, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था, मृतकावस्था और मृत्तिकावस्था देह के रूप में मानव की ये विभिन्न अवस्थाएँ हैं।**

आप ईश्वर को एवं धर्म-कर्म को मानिए या न मानिए, लेकिन इन अवस्थाओं को तो आपको मानना ही पड़ेगा। यदि हम विचार करें तो प्रश्न उठता है कि **इन विभिन्न दैहिक अवस्थाओं में हमारी अपनी अवस्था कौन सी है?** मैं भ्रूण हूँ, गर्भावस्था वाला हूँ, शिशु हूँ, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था वाला हूँ, मृतकावस्था वाला हूँ या भस्मी हूँ। क्योंकि हर अवस्था के साथ 'मैं' सम्पृक्त होती है। देह बदलती है, 'मैं' नहीं बदलती

और हम देह की विभिन्न अवस्थाओं के साथ 'मैं' को पहचानते हैं। मेरी अपनी अवस्था कौन सी है? तो हमारी अन्तरात्मा उत्तर देगी कि **'तुमने इस देह की सारी अवस्थाएँ देखी हैं, लेकिन इनमें तुम्हारी अपनी अवस्था कोई भी नहीं है। अतः मैंने जाना कि 'मैं' अवस्थातीत हूँ।'**

शास्त्रों, वेदों, उपनिषदों, ग्रन्थों, पुराणों को एक ओर रखकर इस देहपुराण पर विचार करिए। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में स्वयं को देखिए और आत्म-विश्लेषण कीजिए। अपने अतीत को याद करिए, बचपन में हमने अपना स्कूल, संगी-साथी, माता-पिता, सम्बन्धी आदि देखे। मैं स्वयं को कभी निर्धन, कभी धनवान, कभी बलवान, कभी निर्बल, कभी रुग्ण व कभी स्वस्थ आदि विभिन्न स्थितियों में देखता हूँ, लेकिन मेरी अपनी स्थिति कौन सी है? **हमारी रूह यह आवाज़ देगी कि तुमने ये सभी स्थितियाँ देखी हैं, लेकिन तुम स्वयं इन सबसे परे हो।**

हम अपनी एलबम तैयार करते हैं, आयु के विभिन्न वर्षों के चित्र दूसरों को दिखाते हैं कि यह मैं जब पाँच वर्ष का था या जब 10 वर्ष का था। यह जब मैं अविवाहित था, यह मेरे विवाह का चित्र है, यह चित्र तब का है, जब मैं एक बच्चे का पिता था। यह चित्र मेरे दोनों बच्चों के साथ है—विचार करके देखें कि इनमें से मेरा अपना चित्र कौन सा है? मैं इनमें से कौन हूँ? उत्तर मिलेगा कि **तुमने सब कुछ देखा है, ये सारी अवस्थाएँ तुम पर आधारित थीं, लेकिन तुम इनमें से कोई नहीं हो।**

हमें ये प्रश्न स्वयं से कभी न कभी अवश्य पूछने होंगे। इस जन्म में नहीं तो हज़ार जन्मों के बाद। नहीं तो अपने दुःखों से हमें कभी भी छुटकारा नहीं मिलेगा। मैंने जीवन की विभिन्न परिस्थितियाँ देखीं, देह की विभिन्न अवस्थाएँ देखीं, स्थितियाँ देखीं। **मैं देह के रूप में कभी सोता हूँ, कभी स्वप्न देखता हूँ, कभी जाग्रत होता हूँ, कभी मृतक होता हूँ, कभी मिट्टी बन जाता हूँ, इनमें से मेरा अपना स्वरूप कौन सा है? उत्तर मिलेगा कि समस्त स्वरूप तुम्हारे हैं, लेकिन इनमें तुम्हारा अपना स्वरूप कोई भी नहीं है।**

मैं कौन हूँ? अपने जीवन की विभिन्न स्थितियों को अपने समक्ष खोलकर रख लीजिए। जो नहीं आईं हैं, उनको भी कल्पना में देख लीजिए, वे स्थितियाँ भी आएँगी। यदि जन्म हुआ है तो मृत्यु भी होगी और फिर ख़ाक या मिट्टी भी अवश्य बनेगी। यह निराधार कल्पना नहीं है, बल्कि एक निश्चित परिलक्षित भविष्य है। यह भी अपने सामने रखकर विचार करिए कि मेरा इन सब स्थितियों से सम्बन्ध क्या है, मैं कौन हूँ, मैं क्या चाहता हूँ? अपने विभिन्न चित्र रख लीजिए, यह चित्र जब मैं इस पद पर था, तब का है, जब मैं उच्च अधिकारी बना था यह तब का है। मैं कहाँ जाना चाहता हूँ, मैं और क्या-क्या बनना चाहता हूँ? वे सब चित्र भी अपनी कल्पना में उतार लीजिए। मैं जब विदेश गया तब का चित्र है, जब मैं भारत आया यह तब का चित्र है, **मेरा अपना देश कौन सा है, मैं कहाँ का रहने वाला हूँ? उत्तर मिलेगा कि तुम सब जगह रहने वाले हो, लेकिन इनमें से तुम्हारा अपना स्थान कोई नहीं है।** मेरी देह विभिन्न स्थानों पर रहती है, इसलिए कभी मैं कहता हूँ कि 'मैं' पंजाब में रहता हूँ, कभी 'मैं' दिल्ली रहता हूँ अथवा 'मैं' चैन्नई रहता था, क्योंकि 'मैं' स्वयं को इस देह से पहचानता हूँ। 'मैं' नहीं परिवर्तित होती। देह का निवास बदलता रहता है और मेरा अपना स्थान इनमें से कोई नहीं होता। मुझे स्वयं से पूछना होगा कि मैं वास्तव में कहाँ का रहने वाला हूँ?

हम विभिन्न सम्बन्ध बनाते हैं। पुराने सम्बन्ध टूटते हैं, नये बनते हैं। **हमें स्वयं से पूछना होगा कि मेरा वास्तविक सम्बन्ध किससे है और मेरी देह जो इतने सम्बन्ध बनाती है, उसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है?** आप अपनी देह के विभिन्न रूपों को याद करिए। आप विभिन्न परिस्थितियों में माया के विभिन्न गुणों में विचरते हैं, **कभी आप विचाराधीन व समाधिस्थ होते हुए सतोगुणी होते हैं। कभी रजोगुणी प्रवृत्ति में भागदौड़ कर रहे होते हैं और कभी आप तमोगुणी प्रवृत्ति में क्रुद्ध, कामावस्था या लोभावस्था में होते हैं। इन तीनों गुणों से युक्त देह की अवस्थाओं में मैं किस गुण का हूँ। मैं सतोगुणी हूँ, रजोगुणी हूँ या तमोगुणी हूँ, तो आपकी**

अन्तरात्मा उत्तर देगी कि आप स्वयं में गुणातीत हैं और सब गुण आपके हैं।

सब स्थान, देश, काल, सम्बन्ध, गुण आपके हैं। यह देह भी आपके लिए है, लेकिन आपको यह जानना परमावश्यक है कि आप कौन हैं? कहाँ से आए हैं और इस देह से आपका क्या सम्बन्ध है? अपनी तीव्रतम बुद्धि से विचार करते हुए पहला, अन्तिम और उत्कृष्टतम उत्तर पाएँगे कि देह के रूप में 'मैं' पृथ्वी पर आया नहीं हूँ, लाया गया हूँ। यदि मैं पृथ्वी पर स्वयं आता तो दिन, तिथि, मुहूर्त निकलवाकर आता। पर मेरा जन्म न तो मेरे हाथ में था और न ही मेरे माता-पिता के हाथ में था, क्योंकि भगवान किसी से मुहूर्त नहीं निकलवाते। अतः **मैं पृथ्वी पर लाया गया हूँ और मुझे पृथ्वी पर लाने वाला जब चाहेगा कभी भी बाहर निकाल देगा। दूसरे, जो भी मैं कर रहा हूँ वह मेरे बिना भी हो सकता है, कदाचित् और भी अच्छा हो सकता है। हम स्वयं अपना विश्लेषण करें कि जो कार्य मेरे बिना ज्यादा अच्छा हो सकता है, वह मेरा कर्तव्य कैसे हो सकता है? तो क्या मैंने कर्तव्य अपने ऊपर थोपे तो नहीं हैं?** आपकी रूह उत्तर देगी कि हाँ ! हाँ ! तुमने अपने ऊपर कर्तव्य थोपे हुए हैं। हमारे बिना भी संसार चल रहा था और हमारे बाद भी संसार चलता रहेगा। **तीसरा तथ्य जो मेरे सम्मुख आएगा वह यह कि जो कुछ भी मैं जीवन पर्यन्त एकत्र करता रहता हूँ, वह मुझे यहीं छोड़कर, खाली हाथ इस संसार से अवश्य जाना पड़ेगा।** हम नंगे-भूखे संसार में आते हैं और नंगे-भूखे ही इस संसार से हमें जाना पड़ता है। यह धन-सम्पदा, सम्बन्धी, मित्र, भवन आदि कुछ भी साथ नहीं जाएगा। यह भी हम भली-भाँति जानते हैं।

अपनी बुद्धि से नित्य बार-बार सोचिए कि मैं कर क्या रहा हूँ? यदि **जो मैं कर रहा हूँ वह मेरे बिना भी बहुत अच्छा हो सकता है, तो 'मैं' पृथ्वी पर क्यों लाया गया हूँ?** जब किसी जिज्ञासु मानव को किसी उत्तर से सन्तुष्टि नहीं मिलती तो उसकी बुद्धि तुरन्त आई. क्यू. वाली (मानवीय बुद्धि) से विवेक बुद्धि में परिणत हो जाएगी। वह सोचने पर बाध्य हो जाता है कि

कोई ऐसी शक्ति है, जिसके हाथ में मेरे सम्पूर्ण जीवन का रिमोट है। **मैं एक विशेष समय में माँ के गर्भ में आता हूँ, मेरी देह के निर्माण में मेरे पिता के नौ सैकेण्ड और माँ के नौ महीने लगे।** उसके बाद यदि मुझे जीना है और मेरा भरण-पोषण होना है तो वह होगा, यही सत्य है। मैं विशिष्ट देश, काल, परिस्थिति में विशेष माता के गर्भ में आता हूँ और पैदा होता हूँ। विशिष्ट प्रकार की तथाकथित शिक्षा प्राप्त करता हूँ। विशिष्ट स्त्री या पुरुष से मेरा विवाह होता है। विशिष्ट प्रकार की सन्तानें उत्पन्न होती हैं और जिस प्रकार भी सम्पूर्ण जीवन चलता है, यह सब कुछ किसी के अपने हाथ में नहीं है।

एक माता-पिता की एक ही सन्तान होती है, क्योंकि कोई दो सन्तानें एक दूसरे से नहीं मिलतीं। किसी से पूछो कि तुम्हारी आयु और तुम्हारे पिता की आयु क्या है? वह बता देता है कि मेरी आयु 25 वर्ष है और मेरे पिता की आयु 50 वर्ष है। उसी का बड़ा भाई बताता है कि मेरी आयु 27 वर्ष है और मेरे पिता की आयु 50 वर्ष है। पहले से पूछो कि यदि तुम 25 वर्ष के हो, तो 25 वर्ष पूर्व तुम्हारा पिता क्या तुम्हारा पिता था? इसलिए तुम्हारे पिता की आयु भी 25 वर्ष ही है और तुम्हारे भाई के पिता की आयु 27 वर्ष है, क्योंकि 27 वर्ष पहले वे उसके पिता थे ही नहीं। वे स्वयं पैदा होते ही तुम्हारे पिता तो नहीं बन गए थे ! अतः बड़े भाई के पिता की आयु 27 वर्ष और छोटे भाई के पिता की आयु 25 वर्ष ही है। दोनों के पिता अलग-अलग हैं। अपनी विचार-धारा को संशोधित करिए। हम सब किसी अन्धकूप में भटक रहे हैं, हमें अपने बारे में सही ज्ञान होना चाहिए। हम अपनी ही देह की विभिन्न विधाओं, अवस्थाओं, परिस्थितियों, रूपों आदि में खो गए हैं। ईश्वर को खोजने और पाने की बड़ी-बड़ी बातें मत करिए। पहले आप स्वयं अपनी खोज तो कर लीजिए ! **जो अपने को जब पा जाएगा, ईश्वर उसको तभी नज़र आ जाएगा।**

सर्वप्रथम हम स्वयं को देह-रूप मानकर स्वयं को पहचानने की चेष्टा करें। हम देह को 'मैं' से और 'मैं' को देह से पहचानें तब भी हमारी 'मैं' अनेक अवस्थाओं, स्थितियों, माया के गुणों, विधाओं, धर्मों, कर्मों, पापों, पुण्यों

व सम्बन्धों में विभाजित रहती है। क्योंकि हमसे भूल यह होती है कि हम देह के बदलने के साथ 'मैं' को भी बदला हुआ मान लेते हैं। **जबकि देह बदलती रहती है और 'मैं' अपरिवर्तनशील है। यही 'मैं' देह के विभिन्न परिवर्तित होते हुए रूपों, अवस्थाओं, गुणों, परिस्थितियों, अवगुणों एवं आयामों की साक्षी है। 'मैं'** ने सारे रूप व अवस्थाएँ देखीं, सारे निवास व देश देखे। जहाँ-जहाँ देह रही, देह के विभिन्न सम्बन्ध देखे। सतत् परिवर्तनशील देह को 'मैं' नहीं पकड़ सकता, लेकिन मेरे बिना देह की कोई अवस्था, स्थिति आदि नहीं थी। मैं भ्रूण हूँ, मैं गर्भावस्था वाला हूँ, मैं सोया हुआ हूँ, मैं मूर्छित हूँ,, मैं मरा हुआ हूँ अथवा मैं भस्मी हूँ, यह देह नहीं कह सकती, क्योंकि तब नाम-रूप वाली देह के साथ मेरी 'मैं' तद्‌रूप नहीं होती।

हम आजकल हर बात में व्यक्तिगत की दुहाई देते हैं। विशेषकर युवा पीढ़ी अपने हर मामले का व्यक्तिगत एवं नितान्त निजी बताती है। जिसका अपना आपा ही खो गया है, उसका व्यक्तिगत क्या होगा? आप अपने जीवन के छोटे से छोटे कृत्य को लीजिए, आपको अपनी हैसियत का ज्ञान हो जाएगा। आप स्वयं में कुछ नहीं कर सकते। मान लो आपको प्रवचन सुनने ही यहाँ आना है, तो क्या आप स्वयं पहुँच सकते हैं? पहले आपको अपनी देह से स्वीकृति चाहिए। यदि देह बीमार हो जाए तो आप कैसे कहीं जा सकते हैं? प्रायः ऐसी घटनाएँ आपके साथ हुई होंगी कि आप कहीं जाने को तैयार हुए कि अचानक सिर-दर्द हो गया अथवा देह में कोई अन्य समस्याएँ आ गईं जिससे आप निकल नहीं पाए। अतः यह देह आपके हाथ में नहीं है। दूसरे, आपके अपने परिवार की स्वीकृति और रज़ामंदी भी अनिवार्य है। आप कहीं जाने के लिए तैयार हुए कि बच्चे की तबीयत अचानक खराब हो गई अथवा पत्नी या किसी अन्य परिवारजन ने कोई क्लेश कर दिया तो भी आप अपना कार्य नहीं कर सकते। अचानक कोई अनचाहा सम्बन्धी आ जाए तो भी आपके कार्य में विघ्न पड़ जाएगा। आप अपने दैनन्दिन जीवन में अपनी देह के छोटे-छोटे कार्यों पर विचार करिए तो आप आश्वस्त हो जाएँगे कि आपका कोई छोटे से छोटा कार्य भी आपके

हाथ में नहीं है। आपकी अपनी कोई हैसियत नहीं है कि आप किसी भी कार्य को कर सकें। आपका वाहन ठीक-ठाक है कि नहीं, आप घर से निकल भी पड़े तो सड़क और यातायात की व्यवस्था आपके हाथ में नहीं है। फिर जिस कार्य के लिए आप जा रहे हैं अथवा जिस किसी से आप मिलने जा रहे हैं, उससे सम्बन्धित व्यक्तियों पर भी उपर्युक्त सभी बातें लागू होती हैं। वे सब मिलें या न मिलें।

मौसम की विभिन्न विधाएँ भी आपके हाथ में नहीं हैं। आँधी या तूफान आ जाए, मूसलाधार बारिश होने लगे, यह सब भी आपके हाथ में नहीं है। अतः अपने छोटे से छोटे कार्य के लिए आपको अपनी देह, परिवार, मार्ग, यातायात, प्रकृति, आकाश सभी का सहयोग अपेक्षित होता है। आपका कोई भी कार्य निजी या व्यक्तिगत नहीं है। अतः आज से मैं-मैं करना बन्द कर दीजिए। आप स्वयं में कुछ नहीं कर सकते, जब तक आपको **वो** (ईश्वर) आज्ञा न दे। आप कोई भी कर्म करेंगे, पाप अथवा पुण्य, ईश्वर को आपके अनुसार सारा ब्रह्माण्ड संचालित व निर्देशित करना पड़ता है। जब आप कोई भी कार्य करते हैं तो प्रभु को ही आपके लिए सारे प्रबन्ध करने पड़ते हैं। आप प्रभु के ध्यान में बैठे तो एक मच्छर, एक चींटी भी आपके ध्यान में विघ्न डाल सकती है। जब तक प्रभु न चाहें तब तक आप छोटे से छोटा कृत्य भी नहीं कर सकते, क्योंकि प्रभु की इच्छा के बिना एक पत्ता भी इस ब्रह्माण्ड में नहीं हिलता।

आप जिस दिन अपने कार्यों में अपनी भूमिका की दृष्टि से आत्मविश्लेषण करेंगे तो आपको अनुभव होगा कि आपकी कोई औक़ात ही नहीं है। आप कुछ भी नहीं कर सकते। अतः आप स्वयं में पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ सबसे मुक्त हो जाएँगे। आपको लगेगा कि कोई आपको खिला रहा है, उसने सबको विभिन्न भूमिकाएँ दी हैं। आपकी अपनी निजी भूमिका उसमें नगण्य सी ही होती है। **अतः जब समर्पण हो जाएगा और यह भाव पैदा हो जाएगा कि कहीं भी, कुछ भी मेरा अपना कृत्य नहीं था तो आपको उस कृत्य के कारण और कर्ता-भाव से तुरन्त मुक्ति मिल जाएगी।** आप

स्वयं को पढ़िए कि आप क्या कर रहे हैं और सारे कृत्य कैसे हो रहे हैं? आप स्वयं में पूर्ण आश्वस्त हो जाइए कि कोई महाशक्ति जो आपको पृथ्वी पर लेकर आई है, वही सब कुछ करवा रही है। उसी वक्त उन कृत्यों के कर्म-फल से भी आप मुक्त हो जाएँगे और उनका फल आनन्द ही होगा। मैंने **'कारणं कारणानाम्'** और **'कर्मबन्धन'** शीर्षक प्रवचनों में कर्म के विभिन्न अंगों एवं विधाओं का विस्तार से वर्णन किया है।

यह देह आपको एक सुनिश्चित व योजनाबद्ध कार्यक्रम के तहत मिली है। **जन्म से लेकर मृत्योपरान्त अस्थि-विसर्जन तक सम्पूर्ण कार्यक्रम आपके लिए बिल्कुल अनिश्चित है। लेकिन जिसने इस देह व देह पर आधारित जगत का निर्माण किया है, उसके लिए सब कुछ सुनिश्चित है।** आप स्वयं इससे, इसके लिए ही निश्चित योजनाएँ बनाते हैं। हमारे लिए, हमारी वे योजनाएँ निश्चित हैं लेकिन उनका पूरा होना हमारे लिए बिल्कुल निश्चित नहीं है। क्योंकि हमें अपने अगले क्षण की भी कोई सुनिश्चितता नहीं है। **जो ईश्वर के लिए सुनिश्चित है, वह हमारे लिए अनिश्चित है और जो हम निश्चित सोचते हैं, वह हमारे लिए ही अनिश्चित है। तो उसकी सुनिश्चितता में अपने कार्य निश्चित करने से पहले क्या उससे परामर्श कर लेना आवश्यक नहीं है !** ईश्वर की योजनाओं में हम अपनी योजनाएँ बनाने वाले कौन होते हैं? यही सबसे बड़ा अपराध है। **इसीलिए स्वयं कारण और कर्ता बनकर जब कोई भी कार्य करते हैं तो दैवीय अधिनियमानुसार उससे हुई प्राप्ति का भोग हम कर ही नहीं सकते। इसका कारण यह है कि हमारे छोटे से छोटे कृत्य के लिए भी ईश्वर को पूरा ब्रह्माण्ड हमारा सहयोगी बनाना होता है।**

दुर्भाग्यवश, हमारे पास स्वयं के पास बैठने का समय ही नहीं है। आप अपने पास बैठा करिए, अपनी देह से हाल-चाल पूछा करिए कि मैं तुम्हें कहाँ प्रयोग करता रहा हूँ? आप पाएँगे कि आपकी देह ही आपसे घृणा करती है। देह आपसे कहेगी कि तुम मेरा दुरुपयोग कर रहे हो। उसकी इस आवाज़ को दबाने के लिए बहुत व्यस्त लोगों को शाम को नशा करना पड़ता है।

आज एक रहस्योद्‌घाटन और कर रहा हूँ कि एक है देह का काल जो माँ के गर्भ में गर्भाधान से शुरू हुआ और हमारी मृत्यु तथा देह की भस्मी बनने तक समाप्त हुआ। यह ईश्वर की दृष्टि में सुनिश्चित है। दूसरा है, हमारा जीवन-काल अथवा हमारे जीवन के कार्यक्रम। **जीवन-काल और देह-काल का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।**

आप अपने एक दिन के सम्पूर्ण जीवन का अवलोकन करिए। आप पाएँगे कि प्रत्येक दिन में आपके अपने कई कार्यक्रम होते हैं। सुबह बिस्तर पर आँख खुलते ही मन-मस्तिष्क में उनकी झड़ी-सी लग जाती है कि आज यह-यह करना है। हम स्वयं कारण बनकर बहुत से कृत्यों का बोझा लिए हुए बिस्तर से उठते हैं और उठते ही शीघ्रातिशीघ्र उन कार्यों को करना शुरू कर देते हैं, लेकिन **होता वही है जो मंजूरे-खुदा होता है।** फिर शाम होती है और रात को हम पुनः सोने के लिए तत्पर हो जाते हैं, लेकिन नींद इसलिए नहीं आती, क्योंकि हमारे कई कार्य अधूरे रह जाते हैं। ऐसे लोगों को नींद के लिए कोई न कोई उपक्रम करना पड़ता है। उन अधूरे कार्यों के लिए उनकी वृत्तियाँ जुड़ी रहती हैं कि यह कार्य कल अवश्य पूरा करूँगा। अगला दिन पुनः उनके अपने इन कार्यक्रमों को लेकर ही शुरू होता है। दिन का काल और उनका मानसिक दिन भिन्न-भिन्न होता है। उनके अपने दिन में उनकी अपनी योजनाएँ होती हैं तो उनका मानसिक दिन प्रकृति के दिन से मेल नहीं खाता। **कभी सौभाग्यवश अपने उस दिन के लिए निश्चित कार्य हो भी जाएँ तो वे तुरन्त ही आगे की योजनाएँ बनाकर जुट जाते हैं और उन्हें अपनी सफलताओं का अहं भी हो जाता है।** आपके कार्यों का विश्लेषण मैं प्रवचन के आरम्भ में ही कर चुका हूँ कि किसी कार्य के होने में आपकी अपनी हैसियत कितनी है। लेकिन हम अपने उसी अहं को लेकर रात देर तक जागते रहते हैं ताकि दिन लम्बा हो जाए। फिर सुबह तदनुसार बहुत देर से ही उठते हैं। उस दिन सुबह देर तक सो कर आपने एक दैवीय अपराध कर दिया और अपने उस दिन का बचपन खो दिया। आपका दिन, दिन की जवानी से शुरू हुआ। जिस जवानी के साथ बचपन सम्पृक्त नहीं

होता वह जवानी क्रूर होती है। जब दिन के मध्य से अपना दिन प्रारम्भ करेंगे तो हमारे कृत्यों में स्वार्थ और क्रूरता होगी, शालीनता नहीं होगी।

दिन समाप्त होने पर भी जैसे मानसिक दिन समाप्त नहीं हुआ, उसी प्रकार हमारी देह का भी एक काल है। लेकिन हमारे अपने कार्यक्रम अनन्त हैं, हमारी देह हमें छोड़ जाती है, लेकिन हमारा मानसिक जीवन समाप्त नहीं होता। इसलिए हम अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यदि हम अपने सम्पूर्ण जीवन के ढर्रे को देखना चाहते हैं तो अपने एक दिन की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अवलोकन कर लीजिए। रात को सोते समय हम कभी मुक्त व निश्चिन्त होकर नहीं सोते। अपने **'दिनचर्या'** शीर्षक प्रवचन में मैंने इस विषय का विस्तार से वर्णन किया है।

सुबह-शाम की संध्या, पूजा, पाठ, ध्यान, सत्संग, प्राणायाम, मनन्, चिन्तन, यज्ञ-हवन आदि का बहुत महात्म्य है। आपकी सुबह जब शाम में समाप्त हुई तो प्रभु का ध्यान करते हुए उसका धन्यवाद करें, कि ''प्रभु ! जो कुछ मिला है वह आपका है। जो कुछ भी मुझसे हुआ, वह आपने करवाया। जो कुछ खो गया वह भी आपकी इच्छा से मेरे आनन्द के लिए हुआ।'' इस प्रकार उसका सिमरन करते हुए निद्रा लें और अगले दिन जब प्रभु उठा दें, तो उठते ही शुद्ध होकर पुनः देव-दरबार में जोतें जलाकर बैठिए। आज जो दिन चढ़ा है वह मात्र आपके लिए चढ़ा है। क्योंकि एक ही दिन सबके लिए अलग-अलग आयाम लेकर आता है। जब आप देव-दरबार में जाएँ तो प्रभु से प्रार्थना करें कि ''प्रभु ! आज का दिन आपने मेरे लिए दिया है। आज नई देह दी है। यह देह भी आपकी है और मैं भी आपका हूँ। यह समस्त कार्यक्रम आपका ही है। मुझे इस देह का सदुपयोग करना नहीं आता, इसलिए **हे प्रभु ! कृपा करके अपनी बल, बुद्धि, विद्या, सामर्थ्य, शक्ति एवं अपने दिए हुए तन, मन व धन से मेरा आज के दिन का जीवन चलाइए, क्योंकि इस दिन के प्रबन्धक तुम ही हो।** जिस समय मेरी आँख खुली है, तुमने ही खोली है। जिस समय मेरी आँखें बन्द करोगे, तुम ही करोगे। मेरे हाथ में कुछ नहीं है।''

हम सब इसीलिए भयभीत, त्रसित और दुःखी हैं, क्योंकि हमने इस देह, मन व बुद्धि को अपना समझ लिया। जबकि हमें इनका इस्तेमाल करना बिल्कुल भी नहीं आता था। अतः इनका 'मुख़्तारनामा-आम' आप ईश्वर के चरणों में अर्पित कर दीजिए, कि 'आप मेरी ओर से यह दिन चलाएँ।' तो आप देखेंगे कि आपके द्वारा हुए हर कृत्य में ईश्वरत्व की झलक मिलेगी। आप उस दिन में कुछ पाने व खोने, दोनों में आनन्दित रहेंगे। आपका स्वतः ही संध्या के समय ध्यान, पूजा व उपासना में बैठने का मन करेगा। जब आप त्रसित होंगे, शारीरिक व मानसिक रूप से थके होंगे तो आप समझ लीजिए कि आपने प्रभु के बनाए हुए दिन को अहंवश अपनी बल, बुद्धि व विद्या से इस्तेमाल किया है, जो कि वर्जित है। हमारे अपने कार्यक्रम हमेशा अधूरे ही रहते हैं और प्रभु के बनाए कार्यक्रम हमेशा पूर्ण रहते हैं। उनमें कुछ पा लेते हैं तो आप सन्तुष्ट रहते हैं। यदि कुछ खो देते हैं तो उसमें भी प्रभु की कृपा ही देखते हैं। इसी प्रकार आप आनन्द में ही देह त्यागते हैं, जिसे निर्वाण कहा जाता है।

मृत्यु तब होती है, जब देह हमें छोड़ती है। हम देह को इसलिए नहीं छोड़ना चाहते, क्योंकि हमारे कार्यक्रम बहुत लम्बे होते हैं। पचास, पचपन, साठ वर्ष तक दुकानदारी कर ली, लेकिन हम व्यापार छोड़ना ही नहीं चाहते। आगे की योजनाएँ बनाते रहते हैं, यह जाने बिना कि **'जीवन काहे के लिए'** मिला है। आपके बिना भी तो दुकान चल सकती है। **जीवन में निरर्थकता को ही हम सार्थकता मान लेते है और भाग-दौड़ करते रहते हैं। एक दिन हमारी देह हमें छोड़ जाती है, क्योंकि देह ईश्वर की एक सुनिश्चित योजना के तहत आई थी, जिसे हमने उपेक्षित कर दिया।** हम आसक्तियाँ और असन्तुष्टि लिए हुए अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं। देह की अवधि में हम अपने कार्यक्रम जोड़ने से बाज़ नहीं आते। उन आसक्तियों की पूर्ति के लिए हम पुनः देह धारण करते हैं। हमें गर्व होना चाहिए कि हम मानव हैं। मात्र मानव-देह धारण करने से कोई मानव नहीं होता, क्योंकि 84 लाख योनियाँ इस देह में ही हैं। आप अपना निर्णय स्वयं करिए कि आप

कौन हैं? मेरे भीतर कोई भेड़िया, सूअर, गीदड़, कुत्ता, गिद्ध तो नहीं पल रहा? अपनी वृत्तियों को जाँचिए कि मैं क्या कर रहा हूँ, मैं कौन हूँ? देह की विभिन्न विधाओं, अवस्थाओं, कृत्यों, भावों, विचारों, धर्मों, कर्मों, सम्बन्धों, कर्तव्यों व मायिक गुणों में आप स्वयं को ढूँढिए। **जिस दिन आप स्वयं को ढूँढ लेंगे, उस दिन सत्य या ईश्वर स्वयं प्रकट हो जाएगा।**

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(5 दिसम्बर, 2004)

'मैं' और देह

(भाग 1)

हम यदि स्वयं सहित कुछ व्यक्तियों का परिचय लें, तो सब अपना परिचय पृथक्-पृथक् देंगे। मैं कहूँगा कि 'मैं शिव कुमार हूँ,' दूसरा कहेगा 'मैं राम हूँ', तीसरा कहेगा, 'मैं गंगा हूँ' और चौथा कहेगा कि 'मैं दिनेश हूँ' आदि-आदि। इस नाम-रूप के परिचय में सबकी अक्ल, शक्ल, रूप, वज़न, आस-पड़ोस, नागरिकता, नाम, आयु, लिंग, प्रतिभाएँ, गुण, धर्म, परिवार, पद, प्रतिष्ठा, जीवन-स्तर, व्यवहार, मर्यादाएँ, मान्यताएँ, शारीरिक-बौद्धिक-मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियाँ, शैक्षिक परिवेश, आर्थिक-सामाजिक स्तर तथा प्रभाव और अन्य सब कुछ परस्पर बिल्कुल भिन्न होगा। इसमें कोई भी समानता या एकरूपता होना असम्भव है, लेकिन सबके परिचय में एक वस्तु समान है, वह है–**'मैं'**। **'मैं'** बोल रहा हूँ, **'मैं'** सुन रहा हूँ, **'मैं'** समझ रहा हूँ, **'मैं'** नहीं समझ रहा आदि।

हर एक अवस्था में व प्रत्येक नाम-रूप में **'मैं'** सर्वत्र व्याप्त है। **'मैं'** इनमें से किसी से नहीं जुड़ी और ये सब **'मैं'** की वजह से हैं, इसलिए **'मैं'** सबके साथ जुड़ी हुई भी है। **'मैं'** की वजह से शिव कुमार है, राम, गंगा और दिनेश हैं, लेकिन शिव कुमार है तो **'मैं'** है, ऐसा नहीं है। **'मैं'** के साथ तो कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जुड़े हैं, ये सब **'मैं'** के लिए हैं, **'मैं'** की वजह से हैं। मेरी स्थूल और सूक्ष्म देह मेरे लिए है, **'मैं'** देह के लिए नहीं हूँ। **'मैं' के अतिरिक्त जो हमारा परिचय है, जिसमें असमानताएँ ही असमानताएँ हैं, वह परिचय हमारी देह और उस पर आधारित सूक्ष्म-जगत का है, वह परिचय 'मैं' का नहीं है, क्योंकि 'मैं' तो सबकी समान है।**

एक नाम-रूप स्वयं में बहुत ही सीमित है, चाहे वह कितनी भी तथाकथित प्रगति कर ले, बहुत धन कमा ले, बड़े से बड़ा पद हथिया ले बहुत सम्पत्ति एकत्र कर ले, करोड़ों-अरबों रुपये बना ले और चाहे कुछ भी बन जाए, उन सबकी एक सीमा होती है। इसलिए अधिकतर हम, एक सीमा में ही जन्म लेते हैं, सीमा में ही जीते हैं और सीमा में ही मर जाते हैं। हम सीमा से बाहर जाने के प्रयत्न में आसक्तियाँ लेकर संसार से विदा हो जाते हैं।

देह के रूप में हम सबकी सीमा है। वह सीमा किसी की कम तथा किसी की ज्यादा है। लेकिन हम सबकी **'मैं'** common है, समान है और ईश्वर **'तू'** है। वह एक ही है और **'मैं'** अनेकों में बँटा हुआ है। इस **'मैं'** के बँटवारे ने **'तू'** को भी बाँट दिया। हम जानते हैं कि ईश्वर एक ही है, लेकिन, क्योंकि **'मैं'** बँट गई तो व्यक्तिगत तौर पर मैं जो हूँ, मैंने ईश्वर को भी उतना ही मान लिया। जब ईश्वर की कृपा होने लगती है तो पहले हमारी **'मैं'** का विस्तार होता है। हम ग़फ़लत में **'मैं'** की बजाय अपनी देह के विकास व विस्तार में लगे रहते हैं, कि मैं और बड़ा पद प्राप्त कर लूँ और धन कमा लूँ। पर वह भी सीमित होता है। कोई उससे बड़ा दीख जाता है तो हम पुनः अवसाद में घिर जाते हैं। तो क्यों न हम **'मैं'** का विस्तार कर लें, **'मैं'** तो वही रहेगी और वह सबकी एक ही है। **वास्तव में हमारी 'मैं' खो गई है, इसीलिए हमें 'तू' नहीं मिलता।**

पहले मैंने अपना परिचय दिया कि 'मैं शिव कुमार हूँ', दूसरे ने कहा 'मैं राम हूँ', तीसरे ने कहा 'मैं गंगा हूँ' और चौथे ने 'मैं दिनेश हूँ' कह कर अपना परिचय दिया। यानि मैंने स्वयं को अपनी एक स्थूल-देह के नाम-रूप के साथ पहचाना कि 'मैं शिव कुमार हूँ'। मेरे लिए मेरा व्यक्तिगत परिचय मात्र इतना है कि 'मैं शिव कुमार हूँ'। लेकिन **'मैं'** मात्र शिव कुमार नहीं है, यदि ऐसा होता तो राम यह क्यों कहता कि 'मैं राम हूँ' और गंगा यह क्यों कहता कि 'मैं गंगा हूँ' और दिनेश 'मैं दिनेश हूँ' कह कर अपना परिचय क्यों देता? अतः **'मैं'** के विस्तार का दूसरा सोपान

हुआ कि मैं शिव कुमार तो हूँ, लेकिन **'मैं'** राम भी हूँ, **'मैं'** गंगा भी हूँ और **'मैं'** दिनेश भी हूँ। इसके बाद प्रभु की कृपा से **'मैं'** के विकास का तीसरा सोपान हुआ कि **'मैं' शिव कुमार भी हूँ।** इसे पुनः समझिए—'मैं शिव कुमार हूँ' यह मेरा प्रथम स्वभाविक परिचय था, कि 'मैं जैसा भी हूँ शिव कुमार हूँ'। फिर प्रभु-कृपा हुई और शिव कुमार ने देखा कि राम, गंगा और दिनेश ने भी **'मैं'** के साथ स्वयं को सम्बद्ध किया तो शिव कुमार को अनुभूति हुई कि 'मैं शिव कुमार हूँ' ठीक है, लेकिन 'मैं राम भी हूँ', 'मैं गंगा भी हूँ' और 'मैं दिनेश भी हूँ'। शिव कुमार ने अपने स्थूल के साथ **'मैं'** का परिचय दिया और अन्य अर्थात् अपने सूक्ष्म-जगत को भी अपनी **'मैं'** में मिला लिया। यह **'मैं'** के विकास का दूसरा सोपान था।

इसके बाद और प्रभु-कृपा हुई तो शिव कुमार ने यह नहीं कहा कि 'मैं शिव कुमार हूँ' 'मैं राम भी हूँ' आदि-आदि, बल्कि कहा कि **'मैं शिव कुमार भी हूँ'।** पहले व दूसरे सोपान तक **'मैं'** शिव कुमार तक फँसा हुआ था कि मैं शिव कुमार हूँ और मैं शिव कुमार तो हूँ साथ ही मैं राम भी हूँ, मैं गंगा और दिनेश भी हूँ। लेकिन तीसरे सोपान में **'मैं'** शिव कुमार भी हूँ, कहने में **'मैं'** जिस प्रकार राम भी हूँ, गंगा भी हूँ दिनेश भी हूँ, उसी प्रकार **'मैं'** शिव कुमार भी हूँ। इस तरह तीसरे सोपान पर **'मैं'** मात्र शिव कुमार से मुक्त होकर समस्त स्थूल, सूक्ष्म, चराचर में समान रूप से व्याप्त हो गयी। लेकिन उसे अभी भी सम्पूर्ण रूपों पर अधिकार नहीं मिला। विकास के चौथे सोपान पर **'मैं'** ने कहा **'शिव कुमार भी मैं हूँ'** यहाँ **'मैं'** को अपने सारे रूपों पर अधिकार आ जाता है। यहाँ देह का कोष समाप्त हो जाता है। स्थूल व सूक्ष्म-देह, एक में अनेक और अनेकों में एक हो जाती है।

चौथे सोपान पर 'शिव कुमार भी मैं हूँ' में **'मैं'** को अपने स्थूल व सूक्ष्म समस्त चराचर जगत पर समान रूप से अधिकार तो हो गया, लेकिन 'मैं' स्वयं को अपने स्थूल व सूक्ष्म से ही पहचानती रही। **'मैं'** का पीछा न स्थूल से छूटा, न ही सूक्ष्म से। **'मैं'** फिर भी स्वयं को खोजती रही कि कहीं मुझे अपनी चिरन्तन व शाश्वत् स्थिति मिल जाए। **'मैं'** कब तक शिव कुमार और

राम, गंगा या दिनेश के चक्कर में रहूँगा। ये सभी देह आनी-जानी और नश्वर हैं। सुषुप्ति, विस्मृति, तुरिया समाधि, मूर्छा व मृत्यु में सब नाम-रूप लीन हो जाते हैं। अतः **'मैं'** फिर भी स्वयं की तलाश में रही।

हम सब में, हमारे परिचय में एक तो **'मैं'** समान थी और हम सबकी भौतिक-देह में सब कुछ भिन्न-भिन्न ही था, लेकिन उन विभिन्नताओं के होते हुए भी एक और समान तत्त्व था, **वह था हमारी भस्मी।** हम सबकी भस्मी बिल्कुल एक है। भस्मी के रूप में हम सबमें न कोई प्रतिस्पर्धा होगी, न ईर्ष्या, न वैर, न वैमनस्य, न तुलना, न शेष। यह नहीं कि भस्मी मरने पर बनेगी, भस्मी तो लगातार बन रही है। भस्मी से ही हमारा सौन्दर्य, ज्ञान, शक्तियाँ, ऐश्वर्य व ख्याति प्रस्फुटित होती है। **जीवन भस्मी से प्रारम्भ होता है, भस्मी में चलता है और भस्मी में ही समाप्त हो जाता है। प्रारम्भ और अन्त में भस्मी ही है और मध्य में भस्मी भी है।** अतः जो था, जो है, जो रहेगा ही, **'मैं'** ने स्वयं को उस तत्त्व से पहचानते हुए कहा—**'मैं भस्मी हूँ'**। यहाँ इस सोपान पर **'मैं'** स्थिर हो जाती है, इसके बाद 'मैं' का विस्तार, विकास अन्तिम छोर पर पहुँच जाता है। यहाँ आकर हमको हमारी **'मैं'** मिल जाती है जोकि जन्म-जन्मान्तरों में खोई रहती है।

'मैं भस्मी हूँ' में **'मैं'** जीवत्व में स्थिर हो जाती है। यही जीवत्व कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का आधार है, जिसका अस्तित्व ब्रह्म है। **'तू'** नहीं खोया था, लेकिन **'तू'** मिला इसलिए नहीं, क्योंकि मेरी **'मैं'** खो गई थी। प्रत्येक जन्म में एक नाम-रूप मुझे मिला। मैं ग़फ़लत में उसी को **'मैं'** मानता गया। उसी पर आधारित जगत में उलझा हुआ, उसी के लिए आसक्तियों को लेकर मरता रहा। लेकिन फिर प्रभु-कृपा हुई, मेरी **'मैं'** का विकास हुआ जिसका अन्तिम सोपान था—**'मैं' भस्मी हूँ।** मृत्यु के बाद जो भस्मी बनेगी तब **'मैं'** नहीं रहूँगा तो **'मैं'** उसका लाभ नहीं उठा पाऊँगा। **आपने यदि कोई बहुत बड़ा व्यापार करना है तो यह करें कि जो वस्तु मरने के बाद भी रहेगी, उस पर जीते जी अधिकार कर लो।** मानव के लिए सबसे बड़ा कर्म यही है कि देह के अन्त में हमारा जो स्वरूप परिणत होगा, उसको जीवन-काल में

ही उतार लें। जिस दिन हम स्वयं को **'मैं भस्मी हूँ'** के साथ पहचानेंगे, उस दिन हममें सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड विचरने लगेगा। संसार के सम्पूर्ण सौन्दर्य, सम्बन्धों, शक्तियों, नाम-यश व ऐश्वर्य पर मात्र हमारा अधिकार होगा, जिसका नशा असीम है, शाश्वत है।

भस्मी से आत्मसात् होने पर आपको अधिकार का नशा आ जाएगा। शिवत्व जाग्रत हो जाएगा। शिवत्व के जाग्रत होने पर माया आपकी समीपता चाहेगी। मैं गृहस्थियों की बात कर रहा हूँ। कोई चाहे कि मैं अपनी पत्नी और सम्बन्धियों को बहुत ज्यादा धन-सम्पदा से प्रसन्न कर दूँ, ऐसा हो नहीं सकता, भूल जाइए। **अपनी सन्तान, अपनी स्त्री, अपने सम्बन्धियों को यदि आप प्रसन्न करना चाहते हैं तो ईश्वर से जुड़ जाओ, नहीं तो ब्रह्मा और विष्णु भी किसी को प्रसन्न नहीं कर सकते।** शान्ति, प्रेम और आनन्द धन से नहीं आता। जहाँ **'मैं'** अपने एक तुच्छ नाम-रूप में संकुचित होगी वहाँ उसको किसी भी वस्तु का भोग नहीं होगा। **'मैं' भस्मी हूँ,** जब आप इस भाव से आत्मसात् हो जाएँगे तो संसार की समस्त विभूतियाँ आपके चरणों में आ जाएँगी। हमारा एक ही मानवीय कर्म है कि हम अपनी खोई हुई **'मैं'** को पा लें। **मेरी 'मैं' इतनी छोटी नहीं है कि एक तुच्छ नाम, रूप और उस पर आधारित नगण्य से जगत में सीमित हो,** क्योंकि **'तू'** इतना छोटा नहीं है तो **'मैं'** इतना छोटा कैसे हो सकता हूँ! **'तू' एक है तो 'मैं' भी एक हूँ** और मैं ख़ाक हूँ, भस्मी हूँ। मुझमें और तुझमें बहुत समानता है। जब आप भस्मी से आत्मसात् हो जाएँगे तो आप ईश्वर से आँखें मिलाकर बात कर सकेंगे।

'तू' मायातीत है, **'मैं'** भस्मी हूँ, इसीलिए **'मैं'** भी मायातीत हूँ। **'तू'** लिंगातीत है, **'मैं'** भी लिंगातीत हूँ। अब भस्मी, स्त्री या पुरुष तो होती नहीं, **तू** धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत है **'मैं'** भी ऐसा ही हूँ, **'मैं'** भी तेरी ही तरह गुणातीत हूँ, सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण से परे हूँ क्योंकि **'मैं'** भस्मी हूँ। साधु की भस्मी और डाकू की भस्मी में कोई अन्तर नहीं है। **'तू'** देशातीत है, **'मैं'** भी देशातीत हूँ। **'तू'** कालातीत है, **'मैं'** भी कालातीत हूँ। यदि आप

जीवन-काल में भस्मी को स्वयं में उतार लोगे तो भस्मी के सारे गुण आपमें आ जाएँगे। भस्मी से कोई क्यों कहेगा कि तुम वक़्त बरबाद कर रही हो या तुम किस देश की हो। एक देह के रूप **में मेरा देश है, मैं काल में बँधा हूँ, लेकिन भस्मी से आत्मसात् होते ही काल व देश की सीमाओं से मैं परे हो जाता हूँ।** अधिकार, मेल-जोल, दोस्ती व दुश्मनी तात्त्विक समानता के स्तर पर होती है। अब भस्मी से शत्रुता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ज़मीन, जायदाद, धन, दौलत पर तो झगड़ा हो सकता है, पर भस्मी पर क्या झगड़ा होगा !

'तू' सम्बन्धातीत है तो **'मैं'** भी सम्बन्धातीत हूँ। अब भस्मी का किसी से क्या सम्बन्ध होगा और सभी सम्बन्ध उसके होंगे। देह के रूप में किसी से इतनी निकटता नहीं हो सकती जितनी कि भस्मी के रूप में होगी। जैसा तू है वैसा ही मैं भी हूँ, लेकिन मुझमें और तुझमें एक भेद है। तू परम समर्थवान, सशक्त, बल, बुद्धि, विद्यावान है और मैं परम असमर्थ, अशक्त और बल, बुद्धि व विद्याहीन हूँ। तुम समर्थता के शहंशाह हो, मैं असमर्थता का शहंशाह हूँ, लेकिन मुझे शक्तियाँ और बल चाहिए भी नहीं। मैं इसी तरह ठीक हूँ। **मैं तुम्हारी वजह से हूँ, तुम मेरा अस्तित्व हो।** तुम मुझे न रखना चाहो, तो मत रखो, तुम ही रहो, मुझे क्या अन्तर पड़ता है। **तुम तो हो ही, मेरे बिना भी हो, 'मैं' तुम्हारे बिना नहीं हूँ, लेकिन मेरे बिना तुम्हारा यह खेल भी नहीं है।** तुम्हें खेलना है तो मुझे रखो, नहीं तो मत रखो। आपका ईश्वर पर इतना अधिकार हो जाता है:—

''तोहि मोहि भेद कैसा, जल तरंग जैसा।''

तुम सागर हो, मैं तुम से उठी तरंग हूँ। बिना जल के तरंग नहीं उठ सकती, जल तरंगों के बिना हो सकता है। **मैं तरंग हूँ, मैं तुमसे उठी हूँ, तुममें ही रहती हूँ और तुम्हीं में समाहित हो जाती हूँ। मैं तुम्हारे बिना नहीं हूँ, तुम मेरे बिना हो, लेकिन तुम्हारे रूप का सौन्दर्य मुझसे ही प्रकट होगा। तुम्हारा सारा खेल मेरी वजह से है, तुम तरंग का रूप नहीं लोगे तो जल की शोभा कैसे होगी। यह सूक्ष्म भेद जीवत्व और ब्रह्मत्व में है।**

जीव ब्रह्म का ख़याल है और वही विशुद्ध 'मैं' है।

अतः हमें संसार में जो कुछ करना है, वह इसी भाव से होना चाहिए, कि मुझे नहीं मालूम आज का दिन तूने मेरे लिए क्यों दिया है, इसलिए तू मुझसे वो करवा जो तू चाहता है। जो भी आप के द्वारा हो उसके लिए यही भाव हो कि तूने ही करवाया है। बात सही है, जब जीवन आपका है ही नहीं तो आप अपनी योजनाएँ क्यों बनाते हैं? अगला क्षण आपके हाथ में नहीं है। तूने मुझे अपने से तरंग-रूप में उठाया है, तू खेल रहा है, मैंने तो तुम से यह देह और संसार माँगा नहीं था, यदि आपने अपनी मोहर लगा दी कि यह मैंने किया है, वहीं आप फँस जाएँगे। इसलिए **'मैं भस्मी हूँ'** जीते जी इस भाव से आत्मसात् होते ही आपको अपनी देह और उस पर आधारित समस्त जगत का पूर्ण भोग मिलेगा। नहीं तो यह धन, स्त्री, सन्तान, दोस्त, दुश्मन, सम्पत्ति, सम्बन्धी सब liability होंगे। **जब आप ईश्वर से युक्त होकर कर्म करेंगे, तभी आप कर्मयोगी होंगे। जो युक्त होकर कर्म नहीं कर रहा, वह कर्मयोगी हो ही नहीं सकता।** क्योंकि कर्म से योग नहीं हो सकता। हमारी कर्मठता व कर्म ईश्वर से युक्त होकर कर्म करने में है, इसे कर्मयोग नहीं बल्कि **योगकर्म** कहना चाहिए। तभी हम कर्मयोगी कहलाएँगे और आपका जीवन **उससे युक्त होकर मस्ती** में बीतेगा।

महापुरुषों ने कहा है–**'सोऽहम्, सोऽहम्'** अर्थात् **जो तू है वो मैं हूँ,** मैं इष्ट-कृपा से इसमें आगे और जोड़ रहा हूँ–**कि तू है तो मैं हूँ, तू तो है ही, तू रहेगा ही, मेरी आवश्यकता है तो तू मुझे प्रकट कर।** तू मेरा अस्तित्व है, मैं तुझ पर निर्भर हूँ। तू खेल रहा है, मुझे खिला रहा है। मेरे बिना तू तो रहेगा लेकिन तेरा खेल नहीं रहेगा। इन कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में मेरा ही विस्तार है, जिसके कारण तुम हो। तुम मुझे क्यों खिला रहे हो, मुझे ज्ञात नहीं है। तुम आनन्द-स्वरूप हो। उस 'मैं' में प्रवेश करके आप भी आनन्द-स्वरूप हो जाते हैं।

अतः सबसे महान मानवीय कर्म यही है, **'मैं'** का विस्तार-विकास हो। 'मैं शिव कुमार हूँ' में शिव कुमार का कितना भी विकास हो जाए पर

वह सीमित ही रहेगा, लेकिन **'मैं'** कई सोपानों पर चढ़ते-चढ़ते अन्तिम सोपान **'मैं भस्मी हूँ'** पर जाकर सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड पर अधिकार कर लेती है और ईश्वर की तरह असीम हो जाती है। जिस दिन मुझे मेरी **'मैं'** मिल जाएगी, उस दिन तू मिल जाएगा, तू तो कहीं गया ही नहीं। मेरा अस्तित्व ही तुझ से था, तुझसे है और तुझसे ही रहेगा। पूरे ब्रह्माण्ड में एक **'मैं'** और एक **'तू'** है:–

'आप ही मोरे नयनवा पलक ढाँप तोहे लूँ,
ना मैं देखूँ और को ना तोहे देखन दूँ।''

मेरी आँखें यदि खुलें और मैं यदि किसी को देखूँ तो वो या तू हो या वो मैं हूँ और तू यदि किसी को देखे तो वह या मैं हूँ या वह तू ही हो। क्योंकि–**'तू' है तो 'मैं' हूँ, 'तू' 'तू' है, 'मैं' 'मैं' हूँ, 'मैं' 'तू' नहीं हूँ, 'तू' 'मैं' नहीं है।** यह **'मैं'** भस्मी हूँ वाली **'मैं'** है। यही शिवत्व है, जिसके चरणों में 108 स्वरूपों में माँ जगदम्बा बैठी रहती है।

शिव में शक्ति समाहित रहती है। वह माया के रूप में शक्ति प्रकट करता है, फिर उसे समेट लेता है। जब चाहता है, तो पुनः प्रकट करता है और ये सारे रूप उसका खेल व लीला होते हैं। यदि कोई निर्देशक अपनी ही फिल्म में एक छोटी-सी भूमिका ले ले, तो वह अपने रोल का भरपूर आनन्द लेता है, क्योंकि सम्पूर्ण लीला का वह स्वामी है। वैसे ही जैसे देवाधिदेव महादेव जो अनादि हैं, अनन्त हैं, उन्होंने लीला में भगवान राम के सेवक का एक छोटा-सा रोल हनुमान जी के रूप में ले लिया। अपने नाम-रूप की तुच्छ सी awarement में अपनी भूमिका के अनुसार उन्होंने बातें भी कीं, अपनी असमर्थता भी प्रकट की, कि यह समुद्र कौन लाँघेगा, सीता माता की ख़बर कौन लेकर आएगा, घुटनों में मुहँ छिपाए हनुमान जी रोते रहे। इतनी उत्तम कला का प्रदर्शन किया। जामवन्त भी उन्हीं देवाधिदेव महादेव का अन्य रूप हैं, उन्हें लीला में ही निर्देशन दिया कि तुम्हें यह कहना है कि **'राम काज लगि तव अवतारा'** फिर मैं जागूँगा। वे ऐसी लीला करते हैं, मानो उसी की भूमिका जी रहे हों। वहाँ उनका वह एक रूप

ही सब कुछ है। जामवन्त जब उन्हें कहते हैं कि तुम्हारे लिए संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जो कठिन हो। तब हनुमान जी उनकी ओर हैरानी से देखते हैं कि क्या ये मुझसे कह रहे हैं? लेकिन जब वे अपने स्वरूप में आते हैं तो पर्वताकार होकर गर्जना करते हैं कि वे अकेले ही समुद्र लाँघ कर रावण को उसके परिजनों समेत मार कर, मात्र लंका ही नहीं, पूरा त्रिकूट पर्वत जिस पर लंका बसी हुई है, उखाड़ लाएँगे। अपने इस स्वरूप की झलक देकर फिर शान्त हो जाते हैं और भगवान राम से कहते हैं—प्रभु ! मैंने कुछ नहीं किया। मैं शाखा-मृग हूँ। एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने वाला वानर हूँ। जो कुछ मेरे से हुआ, वह आपने ही करवाया था। क्योंकि लीला करने वाला इस विषय में विशेष रूप से सचेत रहता है कि कहीं लोग उसके मूल स्वरूप को पहचान न लें।

हमारे साथ होता यह है कि हम अपने तुच्छ से नाम-रूप की चेतनता में अपना महाचेतन मूल स्वरूप भूल जाते हैं, जो कि हमारी **'मैं'** है। यदि हम निरन्तर व अविरल अपने उस स्वरूप के सम्पर्क में हैं तो स्वरूप जब सच्चिदानंद है तो नाम-रूप में भी वैसा ही होना चाहिए, तभी हम उसका भरपूर आनन्द लेते हैं। अरबपति बाप का बेटा लीला में अपने बाप से गुल्लक के लिए पैसे माँगता है, कि पापा ! मेरा जेब-खर्च दो, बाप यह जानते हुए कि उसका पुत्र उसकी समस्त सम्पत्ति का इकलौता वारिस है, फिर भी उसे मना कर देता है, कि नहीं, ज्यादा पैसे नहीं दूँगा, तो यह सब खेल होता है।

हमारे कष्ट, भय, विक्षेप, तनाव, दुःख, चिन्ता, शोक, त्रास व अवसाद का कारण यही है कि हम अपना स्वरूप भूल गए, हमारी 'मैं' खो गई, लेकिन वह स्वरूप हमसे एक क्षण के लिए भी विलग नहीं हुआ। **उस स्वरूप की स्मृति के लिए हमें या तो अपनी देह के अन्त के अन्त यानि भस्मी में जाना होगा या देह के आदि के पूर्व पंच प्राणों की ज्योति-रूप में जाना होगा और उस स्वरूप की अनुभूति करके अपने मध्य में उतारना होगा।** इसका विस्तार से वर्णन मैंने **'जीव-ज्योति'** शीर्षक प्रवचन में किया है। जब इस स्वरूप को मध्य में उतारेंगे तब आप लीला में यदि चिन्तित भी होंगे तो

चिन्तित से होंगे। जैसे हनुमान जी चिन्तित-से हुए रो रहे थे कि माता सीता की खोज कौन करेगा? यदि आप अपने नाम-रूप में ही तद्‌रूप रहे तो आप वास्तव में दुःखी और चिन्तित होंगे।

मेरी चेतना ने एक नाम-रूप लिया, एक देह ली। इस देह के प्रारम्भ के प्रारम्भ में **'मैं'** एक विशुद्ध महाचेतना था, मेरा न कोई नाम था, न कोई रूप, न ही कोई देह थी। मध्य में देह थी और अन्त के अन्त भस्मी रूप में **'मैं'** पुनः नाम-रूप से परे विशुद्ध चेतनता में आ गया। इस प्रकार **'मैं' अविरल चेतनता ही था, उस चेतनता ने जो नाम-रूप की देह धारण की, उस देह के आदि का एक आदि था। माँ के गर्भ में गर्भाधान के रूप में, फिर जन्म के रूप में देह के प्रारम्भ में आया, फिर देह के मध्य में जीवन-काल था, देह का अन्त मृत्यु में हुआ और उस अन्त का अन्त भस्मी में होते हुए 'मैं' पुनः विशुद्ध चेतनता ही रह गया। प्रश्न उठता है कि** ये दुःख, त्रास, रोग, विक्षेप आदि क्यों हैं?

वस्तुतः दुःख-सुख सापेक्षिक हैं। यदि आप सुखी होंगे तो दुःखी भी होंगे। आपको सर्वप्रथम यह देह प्राप्त हुई। यदि देह ठीक व सामान्य हो, उसमें कोई बीमारी न हो तो हम शरीर के विषय में अधिक बात नहीं करते। अब यदि देह में किसी बीमारी की आशंका हुई तो हम चिन्तित हो गए, दुःखी हो गए। फिर डाक्टर को दिखाया, सारे परीक्षण कराए तो पता चला कि रोग कुछ नहीं है, दो गोली खाओगे तो ठीक हो जाओगे। **'मैं'** सुखी हो गया, थोड़े दिन खुश रहकर फिर **'मैं'** सामान्य हो गया। परन्तु सामान्य रूप से तो **'मैं'** न दुःखी था, न सुखी था। यही हमारे साथ होता रहता है। **'मैं'** मूलतः सामान्य होता हूँ, न सुखी न दुःखी। जब देह के साथ स्वयं को पहचानता हूँ तो सुखी-दुःखी होता हूँ। सामान्यतया हमारी देह जब ठीक होती है तो हम न सुखी होते हैं न दुःखी। जब कोई बीमारी आती है या उसकी आशंका से हम चिन्तित या भयभीत व दुःखी हो जाते हैं। उस आशंका के निर्मूल होने पर या बीमारी दूर होने पर हम खुश हो जाते हैं। जैसे थोड़े दिन दुःखी रहे वैसे ही थोड़े दिन खुश व

सुखी रहते हैं और फिर सामान्य हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवन में कोई मिला या सुख-सुविधाएँ मिलीं, आप खुश हो गए। वह चला गया या सुख-सुविधाएँ नहीं रहीं तो आप दुःखी हो गए। लेकिन पहले जब वह नहीं मिला था या वे सुख-सुविधाएँ थी ही नहीं तो आप दुःखी थोड़े ही थे, आप सामान्य थे।

सुख-दुःख, दुःख-सुख सापेक्षिक हैं। ये समस्त प्रकरण सुख-दुःख, चिन्ता-निश्चिन्तता, भय-अभय, रोगी-निरोगी आदि इसलिए हैं, क्योंकि मैं स्वयं को देह मानता हूँ और नाम-रूप की चेतनता में आते ही कोई नौकरी, व्यापार या धनार्जन के लिए कुछ न कुछ करता हूँ। हम स्वयं अपने लिए, अपने परिवार, समाज, देश तथा विश्व के लिए कुछ न कुछ करते हैं। किसी भी कर्म अथवा कृत्य की पृष्ठभूमि या प्रारम्भ में हमारा अपने हिसाब से कोई न कोई अर्थ होता है, कोई लक्ष्य होता है। वह तथाकथित अर्थ व लक्ष्य पूर्ण होने के कुछ समय बाद वह कार्य हमारी दिनचर्या बन जाता है तथा तब हम वह लक्ष्य भूल जाते हैं। अतः जो भी हमारे जीवन की दिनचर्या है, उसके लिए यह जानना परमावश्यक है कि मैं इस दिनचर्या में क्यों हूँ? हमें मानव-देह व जीवन-काल व्यर्थ बरबाद करने के लिए नहीं मिला है। लेकिन जो नहीं है, उसकी हमें चाह होती है और वह मिल जाने के बाद उसका महत्त्व ही नहीं रहता। फिर कोई दूसरी चाह पैदा हो जाती है। इस तरह हम एक अन्धकूप में भटक रहे हैं और यह नहीं जानते कि हमारी एक-एक श्वास की कीमत क्या है? इस तरह बेतुके लक्ष्यों को लेकर जीवन जीते रहते हैं और ईश्वर-प्रदत्त इस चमत्कारिक मानव-देह का वास्तविक लाभ नहीं उठा पाते। लाभ न उठा पाएँ और जीवन निरर्थक बीत जाए तो भी कोई बात नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि निरर्थक और व्यर्थ जीवन बरबाद करने में महाकालेश्वर की 1008 धाराओं के तहत विभिन्न सजाएँ मिलती हैं और हमारा जीवन विभिन्न कष्टों से घिरा रहता है। विशुद्ध चेतनता में मुझे देह का न कोई सुख था, न दुःख था; न संसार था, न परिवार था, न डिग्रियाँ थी, न सम्बन्धी थे, न व्यापार था, न धन-दौलत, न सम्पदा आदि कुछ भी नहीं

था। **मैं अकाट्य, अविरल आनन्द था। व्यापक सच्चिदानंद में कोई वियोग व चिन्ता होने का प्रश्न ही नहीं था।**

यहाँ यह बात बहुत समझने की है कि वह विशुद्ध चेतनता अविरल है, वह नाम-रूप की चेतनता में आने से मात्र नाम-रूप की चेतना रह गई। एक नाम-रूप का स्वरूप एक ही है, लेकिन उस एक स्वरूप का यही एक नाम-रूप नहीं है और अलग-अलग नाम-रूपों का स्वरूप एक ही है, जो सच्चिदानंद ईश्वर है। जहाँ न कोई शोक है, न चिन्ता, न भय, न विषाद, न कोई कर्म, न देश-काल, न सम्बन्ध और न माया के तीन गुण, वही **'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा है। नित्य निरन्तर मुझे अपने उस स्वरूप के सम्पर्क में रहना है, नहीं तो **'मैं'** मात्र अपने एक नाम-रूप में सीमित रहूँगा। **'मैं'** महासागर था जिसमें असंख्य मछलियाँ और समुद्री जीव पलते थे, बड़े-बड़े समुद्री जहाज चलते थे, अब **मैं** गड्ढे में सीमित हो गया तो दो चार मछलियों की मुझे चिन्ता हो गई कि इनका भरण-पोषण मैं कैसे करूँगा। फिर जब मेरे देह रूपी गड्ढे के अन्त का अन्त हुआ तो **'मैं'** पुनः सागर-रूप हो गया। इसीलिए मेरे आदि के आदि को मैंने मनोरंजन नहीं कहा, क्योंकि तब **'मैं'** स्वयं में मनोरंजन था, किसी अन्य मनोरंजन की आवश्यकता ही नहीं थी। जब मध्य में **'मैं'** नाम-रूप की देह से स्वयं को पहचानने लगा, उस मध्य में यदि मैं अपनी देह के अन्त के अन्त में जाऊँ अर्थात् मैं भस्मी से आत्मसात् हो जाऊँ तो वह आत्मरंजन मेरा मनोरंजन बना, जिससे मैं सारे झमेलों से परे हो गया। **'मैं'** भस्मी हूँ और वही तो मेरा मूल स्वरूप है। मध्य में भी **'मैं'** वही हूँ, लेकिन मध्य में नाम-रूप की चेतनता मुझ पर हावी हो गई और मेरा वह आनन्दमय स्वरूप आच्छादित हो गया। **इसीलिए जीवन-काल में नाम-रूप की चेतना होते हुए 'मैं' अपने उस मूल सच्चिदानंद स्वरूप की अनुभूति कर लूँ। अपनी 'मैं' को पा लूँ, यही मेरा जीवन-लक्ष्य है।** जीवन-काल में कुछ पाने या खोने का सम्बन्ध देह से है। इसलिए आपको कुछ भी खोने या पाने की चिन्ता न हो, क्योंकि जीवनकाल में भी **'मैं'** सच्चिदानंद ही है। जहाँ कह दिया **'मैं'** शिव कुमार हूँ, वहाँ फँस

गए, संकुचित व सीमित हो गए। जहाँ कहा मैं शिव कुमार तो हूँ, लेकिन मैं राम, गंगा और दिनेश भी हूँ, वहाँ आप विस्तृत होकर खुलना शुरू हो गए, फिर मैं शिव कुमार भी हूँ और चौथे सोपान **शिव कुमार भी मैं हूँ**, पर आपको अधिकार कुछ अधिक मिल जाएँगे। आप आनन्दमय जीवन जीएँगे। लेकिन शिव कुमार भी नहीं रहेगा और राम, गंगा और दिनेश भी नहीं रहेंगे। यह स्थूल, सूक्ष्म दोनों ही नहीं रहेंगे। अतः **'मैं भस्मी हूँ'** पर **'मैं'** का पूर्ण विस्तार हो जाता है और **'मैं' 'तू'** से सम्पर्क साधने का अधिकार पा लेती है, यहाँ तक कि कह उठती है:–

'' 'तू' है तो 'मैं' हूँ,
'तू' 'तू' है, 'मैं' 'मैं' हूँ,
'मैं' 'तू' नहीं हूँ,
'तू' 'मैं' नहीं है।''

'तोहि मोहि भेद कैसा, जल तरंग जैसा'

बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(24 दिसम्बर, 2004)

'मैं' और देह

(भाग 2)

आज मैं इष्ट-कृपा एवं आप सब परम जिज्ञासुओं की असीम जिज्ञासावश **'मैं और देह'** की द्वितीय कड़ी में जीवात्मा को एक नवीन एवं सर्वथा पृथक् आयाम से आपके सम्मुख प्रस्तुत करने की चेष्टा करूँगा। आपकी एकाग्रता अति वांछनीय है। **'मैं और देह'** शीर्षक प्रवचन की प्रथम कड़ी में मैंने स्पष्ट किया था कि अपनी वास्तविक विशुद्ध **'मैं' की खोज के लिए ही जीवात्मा को नाम-रूप की देह व उस पर आधारित जगत मिलता है।** लेकिन भ्रमवश जीवात्मा, देह को **'मैं'** समझते हुए इसी सीमित देह व उस पर आधारित जगत के लिए भागते-दौड़ते जन्म-जन्मान्तरों में भटकती रहती है। इसकी **'मैं'** खोई रहती है, इसलिए **'तू'** नहीं मिलता। विभिन्न सन्तों व महापुरुषों के श्रीमुख से हमने सुना है और शास्त्रोक्ति भी है कि सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड—आकाश, पाताल, तल, अतल, तलातल, रसातल, महातल, नभचर, थलचर, समुद्र, नदियाँ, प्रपात, असंख्य पर्वत श्रृंखलाएँ, असंख्य प्राणी, जीव-जन्तु, वनस्पतियाँ तथा हमारी अपनी देह भी ईश्वर की माया है।

हम मानव अपनी देह सहित जो भी जगत देख, सुन, चख, सूँघ व स्पर्श कर रहे हैं, वह हमारे लिए सब कुछ होते हुए भी वास्तव में कुछ नहीं है। लेकिन जब तक हम इसकी अनुभूति न कर लें कि यह सब माया है तब तक यह माया ही हमें यदा-कदा विदीर्ण, विक्षिप्त, त्रसित, भयभीत, दुःखी व तनावित करती रहती है, तो कभी मुग्ध, सुखी और आकर्षित करती है। अतः जब हमें माया के द्वारा और माया में विदीर्णता, अस्त-व्यस्तता, तनाव, भय, विक्षेप व त्रास का अनुभव होता है तो हम उस परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना

करते हैं। उससे किसी भी प्रकार से व सब प्रकार से सम्पर्क करने का प्रयास करते हैं, **क्योंकि यह माया, मायापति सच्चिदानंद परमात्मा से विलग नहीं है, माया उसी की छाया है।** तो उस प्रभु से हम सम्पर्क कैसे करें? 'It is one to one approach'. यह एक **'मैं'** क्या है? यह जानना परमावश्यक है, ताकि हमारी प्रार्थनाओं में बल आए, इस एक **'मैं'** को जानने के लिए मैं आपको स्वप्न-सृष्टि में ले जाना चाहूँगा। यहाँ आप अपनी **'मैं'** का ही विस्तार एवं प्रसार देखते हैं। आपकी परम एकाग्रता व श्रद्धा वांछनीय है, क्योंकि यह समस्त अनुभूति का विषय है।

हम सब दिन भर कुछ न कुछ करते रहते हैं। कुछ न कुछ बनते रहते हैं और सब कुछ करते-कराते, बनाते-बिगाड़ते रात को थक कर सो जाते हैं। पुनः सुबह उठते हैं एवं जहाँ से थके थे, वहीं से काम करना शुरू कर देते हैं। पुनः दिनभर कुछ न कुछ करते हैं, कुछ खोते हैं, कुछ पाते हैं और पुनः रात को थक कर सो जाते हैं। इस सोने और जागने में भी हमें सन्तुष्टि नहीं मिलती तो हम एक और अवस्था में जाते हैं। **तब हम सोने में जागते हैं, जिसे 'स्वप्न' कहा जाता है।** सुषुप्ति से बाहर आने के लिए या तो हम **सोने में** जागते हैं, यानि **स्वप्न** देखते हैं अथवा **सोने से** जागते हैं, जिसे हम यह जागृति कहते हैं, परन्तु यह भी **तथाकथित जागृति** ही है। सोने में जागृति स्वप्न है, जिसमें हम एक सृष्टि देखते हैं, जो लगभग इस तथाकथित जागृति जैसी सृष्टि ही होती है, क्योंकि स्वप्न के दौरान वह स्वप्न प्रतीत नहीं होता। स्वप्न से जागकर ही आभास होता है कि वह मेरा स्वप्न था। उस स्वप्न में भी हम कुछ न कुछ करते हैं। कुछ खोते हैं, कुछ पाते हैं, किसी से मिलते हैं अथवा बिछुड़ते हैं, प्रेम, घृणा, क्रोध सब कुछ लगभग ऐसा ही होता है, जो इस तथाकथित जागृति में होता है। कुछ स्वप्न डरावने और भयानक होते हैं, कुछ अच्छे, मोहक व सुख-मिश्रित होते हैं। स्वप्न से हम दो तरह से बाहर आते हैं, यानि स्वप्न टूटने के दो निकास हैं। कोई डरावना स्वप्न होता है तो हम घबरा कर सीधा स्वप्न से जाग्रत हो जाते हैं या हम स्वप्न देखते-देखते ही पुनः सो जाते हैं। **अतः जिस प्रकार सुषुप्ति के निद्रा में जागृति (स्वप्न)**

और निद्रा से जागृति (यह तथाकथित जागृति) दो निकास हैं, उसी प्रकार कोई सपना भी दो प्रकार से टूटता है। या तो हम स्वप्न से सीधा जाग जाएँ या स्वप्न के बाद पुनः सो जाएँ।

जब हम निद्रा से जागते हैं, तब हम निद्रा में जागृति के स्वप्न वाले दृश्यों के बारे में कहते हैं कि वह स्वप्न था। स्वप्न में हम स्वप्न नहीं कहते और स्वप्न को स्वप्न कहना मात्र पर्याप्त नहीं है, उसकी अनुभूति भी होनी चाहिए। हमारे महापुरुषों ने तो इस जगत को भी स्वप्न कहा है। कहने सुनने से अधिक महत्त्वपूर्ण उसका Realisation है। स्वप्न से जागने के बाद जैसी अनुभूति होती है, कि उस स्वप्न-सृष्टि में क्या दिया, क्या लिया, क्या खोया, क्या पाया, वह तो मात्र स्वप्न था। स्वप्न में किए गए पाप, पुण्य, शुभ, अशुभ सब कृत्य आपके मन से हट जाते हैं और आप आश्वस्त हो जाते हैं कि आप कहीं गए नहीं, आपने कुछ किया नहीं, क्योंकि आप तो जिस बिस्तर पर सोए थे, उसी से उठे हैं। स्वप्न में आपने किसी को कुछ रुपये दिए हों तो जागकर उससे मांगते तो नहीं हैं कि भैया ! मेरा पैसा वापिस कर दो। लेकिन यदि स्वप्न चल रहा है तो आप उससे माँगेंगे। अतः स्वप्न की स्वप्न-रूप में अनुभूति जागने के बाद ही होती है।

इस स्वप्न से बाहर आने के दो आयाम हैं। एक तो स्वप्न से सीधे जाग जाना या स्वप्न के बाद सो जाना और फिर जागना। स्वप्न में 'मैं' शिव कुमार किसी जंगल में हूँ और मेरे पीछे शेर लग गया और मैं डर कर उठ गया, तो देखा न तो वहाँ जंगल है, न शेर और न 'मैं' वह हूँ, जिसके पीछे शेर लगा था। स्वप्न में डरने व भागने वाला 'मैं' जागकर निश्चिन्त हो जाता हूँ। **अब स्वप्न में डरने वाला, भागने वाला 'मैं' शिव कुमार और जाग कर निश्चिन्त हो जाने वाला 'मैं' शिव कुमार, दोनों ही साकार हैं। यहाँ दो जागृति हैं, एक निद्रा में जागृति, जो स्वप्न था और निद्रा से जागृति, जो यह तथाकथित जागृति है।** निद्रा में जागृति स्वप्न थी, यह निद्रा से जागने के बाद ही Realise हुआ। किसी जिज्ञासु के मन में जिज्ञासा उठी कि स्वप्न में जो सृष्टि थी, जिसमें मैं भी था, वह भी लगभग वैसी ही थी,

जैसी कि यह तथाकथित जागृति वाली सृष्टि है। उसमें भी विशेष देश, काल, परिस्थिति, समय, लेना, देना, मिलना, बिछुड़ना सब कुछ वैसा ही है। 'मैं' सुषुप्ति में जागा वह स्वप्न था, जो मुझे जागकर पता चल गया, लेकिन 'मैं' सुषुप्ति से जागा तो यह तथाकथित जागृति वाली सृष्टि भी वैसी है, जैसी सृष्टि **'मैं'** जब सुषुप्ति में जागा था, उस स्वप्न के दौरान थी। तो 'मैं' सुषुप्ति में जागा या सुषुप्ति **से** जागा, दोनों का आधार सुषुप्ति ही तो है।

जागृति एक अवस्था है, सुषुप्ति **में** हो या सुषुप्ति **से** हो। **'मैं'** आश्वस्त हो गया कि वह जो स्वप्न था वह सुषुप्ति में जागृति थी और जिस जगत और स्वयं की अपनी देह को अब मैं **'मैं'** कह रहा हूँ, यह सुषुप्ति से जागृति है। दोनों ही सृष्टियों का आधार सुषुप्ति है और दोनों ही सृष्टियों में बहुत एकरूपता व समानता भी है। 'स्वप्न' सुषुप्ति में जागृति की सृष्टि थी, क्योंकि स्वप्न किसी सोए हुए को ही आएगा। उस स्वप्न-संसार में 'मैं' स्वप्न के दौरान तथाकथित जागा तथा उससे जाग्रत होने के बाद मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया कि वह स्वप्न था, कोई जागृति नहीं थी। अब शास्त्र कहता है कि यह जगत भी सपना है, भगवान शंकर ने भी अपना अनुभव माँ पार्वती को सुनाया कि:–

''उमा कहहुँ मैं अनुभव अपना
सत हरि भजन जगत सब सपना।''

अतः कोई ऐसी महानिद्रा या सुषुप्ति है, जिसमें 'मैं' तथाकथित जाग रहा हूँ। वह स्वप्न सुषुप्ति में जागृति थी और यह तथाकथित जागृति उस सुषुप्ति से जागृति है। यह मुझे स्वप्न देखने के दौरान ज्ञात नहीं था कि 'मैं' वास्तव में सोया हुआ हूँ और स्वप्न देख रहा हूँ। तो अब मैं जो सोए से जागा हूँ, यह भी किसी महानिद्रा में जागृति ही है। अतः **जिसे मैं अब जागृति कह रहा हूँ, कहीं यह भी तो मेरा स्वप्न नहीं है।** यह भ्रम मुझे क्यों न हो, क्योंकि स्वप्न, स्वप्न है, यह मुझे स्वप्न के दौरान तो पता नहीं चला, जागकर ही एहसास हुआ कि अरे ! वह स्वप्न था। जो मैं अब देख रहा हूँ कि जिसे मैं सत्य कह रहा हूँ और जागृति कह रहा हूँ, यह भी तो लगभग

वैसी ही सृष्टि है। इस सबका चश्मदीद गवाह मैं ख़ुद हूँ। मैंने सब कुछ देखा था और जो स्वप्न में अन्य लोग थे, जो लेना-देना था, वह सब 'मैं' ही था। 'मैं' ज्यूँ का त्यूँ वहीं हूँ, कहीं आया-गया नहीं, वहीं से उठा हूँ, जहाँ सोया था:–

''राम की दुहाई रे बाबा राम की दुहाई,
ना कित आएबो ना कित जाएबो।''

साथ ही मैंने सब कुछ देखा भी, जो वास्तव में कुछ नहीं था, लेकिन स्वप्न देखते वक़्त वही सब कुछ था और अब भी वैसा ही है क्योंकि शास्त्र कहता है कि यह सब कुछ सपना है, लेकिन यह स्वप्न है, ऐसा अनुभव मुझे तब होगा, जब मैं जागूँगा। यहाँ मुझे सद्गुरु की शरण चाहिए, जो झकझोर कर मुझे जगा दे, जैसे कोई बच्चा नींद में कोई स्वप्न देखते हुए बेचैन होता है, तो हम उसे हिलाकर जगा देते हैं कि बेटा उठो, कुछ नहीं है।

इष्ट-कृपा व सद्गुरु-कृपा से हम स्वप्न की मायिक सृष्टि और इस तथाकथित जागृति वाली सृष्टि, जो ईश्वरीय माया है, इस पर विचार कर सकते हैं। मैं शिव कुमार सो गया और मैंने स्वप्न देखा, जिसमें मैं गुड़गाँव वाले घर में था, घड़ी में संध्या के छः बजे थे और वहाँ राम, गंगा और दिनेश भी थे, जिनसे वार्तालाप हुआ, कुछ दिया, कुछ लिया, खाया, पिया और जब 'मैं' जागा तो मैंने स्वयं को अपने लन्दन वाले घर के बिस्तर पर पाया। जागकर मैंने विचार किया कि जो मैंने स्वप्न में गुड़गाँव वाला घर देखा, वहाँ शाम के छः बजे का समय था, घड़ी लगी थी, सब कुछ था राम, गंगा, दिनेश भी थे और जब मैं जागा हूँ, तो कुछ भी नहीं है। मैं लन्दन में हूँ और सुबह के तीन बजे हैं। तो स्वप्न वाला **'मैं'** शिव कुमार कौन था और शेष सब कुछ क्या था? थोड़ी देर पहले जब मैं स्वप्न में था तो 'मैं' शिव कुमार था और सब अलग-अलग थे। जाग कर मैंने कहा कि शिव कुमार भी मैं था, राम, गंगा और दिनेश भी मैं ही था। यदि मुझे भ्रम है तो मैं राम, गंगा व दिनेश को पूछ लूँ कि क्या वे मेरे साथ थे, मुझे पता चलेगा कि नहीं। इसलिए वे सब भी **'मैं'** ही था। **स्वप्न के सम्पूर्ण प्रकरण में मैंने ही खुद से सब व्यवहार किया यह मैंने अनुभव कर लिया।** स्वप्न का विश्लेषण करने पर ज्ञात हुआ कि

एक ही मानस से एक विचार तथा ख़याल उठा जो विभिन्न रूपों में स्वप्न के विभिन्न दृश्य बनकर प्रकट हुआ। लेकिन वह स्वप्न मेरे हाथ में नहीं था। उसका निर्देशक, प्रबन्धक, डिज़ाइनर कोई और था। उस स्वप्न में मैं हँसा भी, रोया भी, मैंने खोया, पाया सब कुछ हुआ, लेकिन जागकर मुझे अनुभव हुआ कि वह सब कुछ नहीं था, मात्र सपना था। यदि यही मेरी स्थिति उस स्वप्न के दौरान भी होती कि मुझे पता चल जाता कि यह स्वप्न है, कि हर जगह **'मैं'** ही **'मैं'** हूँ और करवाने वाला कोई और है तो मुझे स्वप्न के दौरान उस स्वप्न का आनन्द आ जाता, मुझे पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ का महात्म्य ही न रहता, जोकि स्वप्न देखते हुए मुझे था। जागकर मैं स्वप्न कह रहा हूँ और निश्चिन्त हो गया हूँ, स्वप्न के दौरान मेरी यह मानसिक स्थिति होती तो स्वप्न में कोई मर्यादा न होती, कौन दोस्त, कौन दुश्मन, कौन बड़ा, कौन छोटा क्योंकि सब कुछ 'मैं' ही था। इस तथाकथित जागृति में भी मैं किसी महानिद्रा के स्वप्न में हूँ। स्वप्न का स्वप्न पता चला, जब मैं जागा। इसलिए इस तथाकथित जागृति में भी सब कुछ स्वप्न जैसा ही है:—

''मोह निशा सब सोवन हारा, देखत सपन अनेक प्रकारा।''

तो इससे मैं कैसे जागूँ? हम इस जगत में जो कुछ भी कर रहे हैं, वह किसी गहन **सुषुप्ति में** जागकर स्वप्नावस्था में ही कर रहे हैं और उसी को कर्मठता, परोपकार, कर्मयोग और न जाने क्या-क्या नाम दे रहे हैं। हम अपनी मूर्खता, अज्ञान और भ्रम को कर्मठता कह रहे हैं। स्वप्न में यदि किसी ने बहुत दान दे दिया, परोपकार कर दिया, दीन-दुःखियों की सेवा कर दी अथवा कोई तथाकथित पाप कर दिया और मान लिया कि मैंने किया है तो उसका फल उसे अवश्य मिलेगा, क्योंकि वह स्वयं को एक देह के साथ पहचानता है। इसलिए यहाँ जीव 84 लाख योनियों में फँस जाता है। वह देह नहीं रहती लेकिन वह **'मैं'** रहती है जिसने देह के साथ तद्रूपता की। अतः इस तथाकथित जागृति में मुझे 'यह मेरा स्वप्न है', इसे Realise करना है, तो मुझे इससे जागना होगा। **मेरा यही कर्म है कि इस तथाकथित जागृति रूपी स्वप्न से जागूँ।** मुझे कोई ऐसा अवलम्बन चाहिए जो मेरा

बन्धन काट दे। यह जो स्वप्न की सृष्टि को मैं सत्य समझ रहा हूँ, स्वप्न वाली देह को **'मैं'** समझ रहा हूँ, इस **स्वप्न से जागने के लिए मुझे सद्गुरु की शरण चाहिए।** आपकी **'मैं'** आर्तनाद करती है, त्राहि माम् प्रभु, मैं कौन हूँ। मैं खो गया हूँ और इसलिए तुम्हें भी मैं खो चुका हूँ। इस तथाकथित जागृति रूपी स्वप्नवत् सृष्टि में **'मैं'** अपना नाम छोड़कर उसका नाम पुकारे, कि प्रभु ! सब कहते हैं, यह सपना है। इस स्वप्न में ही मैं दुःखी हूँ। तो वह निराकार सत्ता, पार-ब्रह्म परमेश्वर स्वयं साकार देह धारण करके सद्गुरु के रूप में उस तथाकथित जागृति रूपी स्वप्न-सृष्टि में प्रकट हो जाता है। उसे बताता है कि तू ऐसे जाग, कि तू इष्ट का नाम-जाप कर, मस्त हो के उसका कीर्तन-भजन कर, सिमरन, यज्ञ-हवन कर और कुछ भी कर, जो तुझे स्वप्नवत् संसार से जगाकर इसे दिखाने वाले से जोड़ दे। इस प्रकार तेरी स्वप्न की देह के रोग-दोष तुरन्त नष्ट हो जाएँगेः—

'जासु नाम त्रय ताप नसावन,'

जागने के लिए नाम की यही महिमा है। स्वप्न में मैं साकार था और जागकर भी मैं साकार रहूँगा, लेकिन वह स्वप्न टूट जाएगा। **मानवीय कर्म मात्र यही है कि जिस भी कर्म से आप इस स्वप्नवत् सृष्टि से जग जाएँ, तब आपकी 'मैं' मिल जाएगी।** आप सीधा स्वप्न से जागे तो साकार से साकार में आ गए। जब हम अपने इष्ट व सद्गुरु को भजते हैं, जप करते हैं, याद करते हैं, जो सद्गुरु करवाता है, वह करते हैं तो हम जाग जाते हैं। हम तुरन्त सुखी, निश्चिन्त, अभय और अशोक हो जाते हैं। हमारी देह विशुद्ध **'मैं'** वाली हो जाती है, क्योंकि जो दुःखी, त्रसित, भयभीत थी वह हमारी स्वप्न की देह थी। अब यह देह जाग्रत है। किसी से दुश्मनी हो तो ध्यान से उठने के बाद आपको अनुभव होगा कि किसी से क्या दुश्मनी ! वो तो अपने ही लोग हैं। कोई बात नहीं। देह के घुटनों में दर्द हो रहा था, ध्यान से उठने के बाद आप निरोग, अभय और अशोक हो जाते हैं, कि देह का क्या है, यह तो आनी-जानी है। मैं स्वयं में आनन्दित हूँ, तो आपकी 'मैं' के बदलने के साथ ही आपकी देह भी बदल जाती है। वह स्वप्न वाली दुःखी व त्रसित देह

नहीं रहती, क्योंकि जो **'मैं'** पहले स्वप्न वाली देह के साथ सम्पृक्त थी, अब जाग्रत देह के साथ जुड़ी है। **'मैं' एक ही है, जहाँ आपको कष्ट, तनाव, त्रास, भय, चिन्ता, शोक होगा, वहाँ आप समझ लीजिए कि आप सोए हुए हैं और स्वप्न ही देख रहे हैं। जहाँ आनन्द होगा, वहाँ आप जाग्रत होते हैं, क्योंकि ईश्वर सच्चिदानंद है।**

स्वप्न से निकास का एक दूसरा आयाम यह होता है कि आप स्वप्न देखते-देखते पुनः सो जाते हैं। देह की किसी भी साकार प्रस्तुति के लिए पहले आपका निराकार होना परमावश्यक है। बिना सोए, आप कोई भी स्वप्न नहीं देख पाएँगे, क्योंकि निराकार में जो अंकन होता है उसी की प्रस्तुति साकार में होती है। इस तथाकथित जागृति रूपी स्वप्न-सृष्टि से जाग्रत होने के लिए आप इस जागृति में सो जाएँ जैसेकि निद्रा में जागृति स्वप्न था, जो जागने के बाद ज्ञात हुआ। **यह जागृति भी यदि किसी महानिद्रा का स्वप्न है, तो उससे जागने के लिए इस तथाकथित जागृति में निद्रा की मानसिकता बना लें।** इस तथाकथित जागृति से उठने के लिए पहला आयाम था कि आप अपने साकार इष्ट के साथ किसी भी प्रकार से जुड़ जाओ, तो आपकी 'मैं' बदल जाएगी और दूसरा आयाम है कि इस तथाकथित जागृति में निद्रा को सम्पृक्त कर दो। निद्रा में आप नाम-रूप की Awarement से परे होते हैं। अब हम इस तथाकथित जागने में सो जाएँ यानि नाम-रूप की सृष्टि का लय कर दें। पहली वाली नींद स्वतः थी, यह नींद आपको उत्पन्न करनी पड़ेगी। इस तथाकथित जागृति में सोने के लिए आपको प्रयत्न करना पड़ेगा, आपको अपनी नाम-रूप की सृष्टि को समाप्त करना पड़ेगा। निद्रा में You are not aware that you are not aware of your name and form लेकिन जागृति में निद्रा की मानसिक स्थिति सम्पृक्त करने में You will be aware that you are not aware of your name and form आप यहाँ अपनी सोई हुई स्थिति देख रहे हैं, जिसमें आप अपने नाम-रूप से परे हैं। इसे शास्त्र **ने लय-योग कहा है।** आप ध्यान में अपनी देह व नाम-रूपात्मक समस्त सृष्टि का दहन कर दीजिए। इसे ख़ाक बना

दीजिए। इसके लिए महाजागृति अपेक्षित है। जब आप ध्यान में स्वयं को नाम-रूप की प्रतीति से परे देखेंगे तो आप स्वयं में निराकार होंगे क्योंकि आपने स्वयं की नाम-रूपात्मक देह का दहन होते अपने सम्मुख देखा है। यह आपकी निराकार **'मैं'** होगी और जो आप पहले आयाम में साकार से साकार में गए, वह आपकी साकार **'मैं'** थी और दोनों जाग्रत होंगी तथा दोनों ही सत्य हैं।

जब आपकी **'मैं'** को अपने नाम-रूप की प्रतीति से परे होने का आभास हो जाए, वह **'मैं'** का निराकार आनन्दमय स्वरूप है। जब आप अपने नाम-रूप में होते हुए भी जाप, सिमरन, कीर्तन, भजन यज्ञ-हवन, प्राणायाम अथवा सद्‌गुरु द्वारा निर्देशित किसी भी पुरुषार्थ कर्म द्वारा, किसी भी प्रकार से ईश्वर से जुड़ जाएँ तो वही आपकी साकार **'मैं'** अथवा दिव्य-देह है। शेष सब निरर्थक हैं। जिसे हम जागृति कहते हैं वह तथाकथित जागृति इसलिए है, क्योंकि उसमें वास्तविक विशुद्ध **'मैं'** सुषुप्त रहती है। जैसे कि स्वप्न की सृष्टि में स्वप्न के चलते मुझे यह ज्ञान नहीं होता कि मैं सोया हुआ हूँ और स्वप्न देख रहा हूँ तथा स्वप्न की देह की **'मैं'** में सुखी-दुःखी होता रहता हूँ। उससे जाग्रत होने पर मैं जान जाता हूँ कि स्वप्न में जिसे देह के रूप में **'मैं'** मान रहा था, वह **मैं** नहीं हूँ। वह सब कुछ **'मैं'** ही था, यह मेरी जागृति मुझे बताएगी। स्वप्न में यदि स्वप्न देखते हुए आपको ज्ञात हो जाए कि यह स्वप्न है, इसका अर्थ है कि आप जाग्रत हैं और वह सारा प्रकरण लीला बन जाएगा। चारों ओर आप अपनी **'मैं'** का ही विस्तार-प्रसार देखेंगे। **लेकिन यह समस्त खेल ईश्वर खिला रहा है। इस समस्त खेल का आधार 'मैं' होते हुए भी इसका अस्तित्व व कारण ईश्वर है, जो मेरे द्वारा अनेक रूपों में खेल रहा है।**

स्वप्न में यह ज्ञान हो जाए कि यह स्वप्न है तो इसका अर्थ है कि स्वप्न टूट गया, लेकिन इसका टूटना आपके हाथ में नहीं है। जितना जप, तप, यज्ञ, स्वाध्याय, धर्म, कर्म, ध्यान, अनुष्ठान आदि पुरुषार्थ कर्म हैं, वे इसलिए हैं कि यह स्वप्न टूट जाए और मुझे मेरी **'मैं'** मिल जाए। अतः ये सभी कर्म

भी देहातीत होने चाहिए। कौन सा स्वप्न आएगा, यह मेरे हाथ में नहीं है। न स्वप्न आना आपके वश में है, न स्वप्न चलना आपके हाथ में है और न इसका टूटना आपके वश में है। लेकिन यदि आपको ज्ञान हो जाए कि यह स्वप्न है, तो यह ज्ञान होने से स्वप्न के सुख-दुःख आपको भासेंगे नहीं, फिर आप आनन्द लेंगे। न ही अपने कर्मों का अभिमान होगा, न तनाव, न निराशा होगी, क्योंकि सब स्वप्न ही तो है। जितनी मर्यादाएँ, शुभ, अशुभ, पाप, पुण्य हैं, तुच्छ दैहिक **'मैं'** में ही हैं। वैदेहिक **'मैं'** इन सबसे मुक्त है। वस्तुतः **'मैं'** निराकार ही है और सब नाम-रूप की देहों में उसी का विस्तार-प्रसार है। यह मुझे स्वप्न-सृष्टि से जागने के बाद अनुभव हो जाता है। **इस तथाकथित जागृति के स्वप्न से मुझे सद्‌गुरु जगाता है।** मुझे अनुभव हो जाता है कि ईश्वर ही सब कुछ करवा रहा है और मेरे द्वारा वह संसार का निर्माण, पालन व संहार करता है। संहार में देह-रूप में **'मैं'** भी मिल जाऊँगा लेकिन **'मैं'** फिर आऊँगा और मेरे द्वारा फिर **वह** खेलेगा। **मैं नर हूँ, वह नारायण है। नर का अस्तित्व नारायण है, नारायण का अस्तित्व नर नहीं है।** नारायण को खेल व लीला के लिए एक नर चाहिए। नर जीवात्मा है, नारायण परमात्मा है। **'मैं'** ही वह एक नर हूँ, जो नारायण की शक्ति से सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में विचर रहा है। स्वयं को नारायण नहीं मानना।

इस **'मैं'** को खोजने के लिए भी देह चाहिए। एक बार मुझे मेरी **'मैं'** मिल गई, फिर मुझे देह की आवश्यकता नहीं है। फिर मुझे वह देह देगा भी तो खेलने के लिए देगा। दूध से एक बार मक्खन निकल गया तो उसे पुनः दूध में मिलाया नहीं जा सकता। एक बार यदि निश्चित तौर पर यह आवरण हट गया तो दोबारा कभी नहीं पड़ता तथा मेरी विशुद्ध **'मैं'** लीला-रूप में सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक सृष्टि का आनन्द लेती है–***निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।***

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(30, 31 दिसम्बर, 2004)

'मैं' और देह

(भाग 3)

मानव-देह एवं जीवन का लक्ष्य, सार्थकता एवं अभिप्राय मात्र यही है कि मुझे मेरी **'मैं'** के स्वरूप का ज्ञान हो जाए। **'मैं'** देह नहीं हूँ, देह मेरी नहीं है, बल्कि यह मेरे लिए है। यदि यह मेरे लिए है तो मैं अपने स्वरूप के ज्ञान के लिए इसका सदुपयोग कैसे करूँ? देह ने जो **'मैं'** का अवलम्बन लिया है तो मेरा सद्‌गुरु व इष्ट मुझे इसके स्वरूप से अवगत कराएगा कि **'मैं'** देह के साथ उलझ गया हूँ। मैं पृथक् हूँ और देह पृथक् है। मुझे यह बार-बार इसलिए मिलती है ताकि मैं इसका अवलम्बन लेकर अपनी विशुद्ध **'मैं'** को ढूँढ लूँ। **'मैं'** कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मुझे जाना कहाँ है? देह पंच-महाभूतों का संगम है और अन्ततः इन्हीं में विलीन हो जाती है। लेकिन मैं कौन हूँ, मेरी यात्रा क्या है? अतः किसी भी प्रकार से देह के होते हुए मुझे अपने उस विशुद्ध स्वरूप को खोजना है।

यह देह नाम-रूप की चेतनता में आने से पहले भी चेतन थी। जब माँ के गर्भ में मेरी देह के लिए गर्भाधान हुआ था, तो मैं चेतन था। तभी तो नौ महीने विकसित होने पर **'मैं'** देह के रूप में पैदा हुआ। जन्म लेते ही देह के रूप में मैं चेतन था। मुझे भूख लगती थी तो रोता था, अपने चारों ओर देखता था, लेकिन मुझे मेरी देह के नाम-रूप व उस पर आधारित जगत की चेतनता नहीं थी। जैसे ही मुझे उसकी Awarement हुई, जिसे हम तथाकथित होश सम्भालना कहते हैं, तो नाम-रूप की चेतना ने **'मैं'** का अवलम्बन लिया। धीरे-धीरे मैंने देह को ही अपना स्वरूप समझ

लिया। अतः वह देह **'मैं'** के साथ और **'मैं'** देह के साथ तद्‌रूप होकर उलझ गए।

देह की अवस्थाओं, परिस्थितियों, आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक विधाओं, देह के निवास-स्थलों, देह की भौतिक व मानसिक स्थितियों, देह की शिक्षा व ज्ञान की स्थितियों तथा देह के नाम, यश, अपयश आदि की अवस्थाओं को **'मैं'** अपनी मानने लगा। **देह सोई 'मैं' सो गया, देह का अन्त हुआ 'मैं' मर गया। देह भस्मित हुई 'मैं' भस्मित हो गया।** जब भी हम अपने होश में होते हैं, अपनी देह को अपने साथ पाते हैं। तो मैं स्वयं को अपनी देह से विलग कैसे करूँ? देह के साथ **'मैं'** होती ही है। मैं एक घण्टा पहले आया था, मैं यहाँ बैठा हूँ, मैं कल वहाँ जाऊँगा। अतः जब भी हम होशोहवास में होते हैं, तो देह रूप में **'मैं'** हमारे साथ अवश्य होती है। इसलिए नाम-रूप की चेतनता में आते ही **'मैं'** भ्रमित हो गया कि 'मैं देह हूँ।'

'मैं' जब स्वयं नाम-रूप की प्रतीति में आया तभी **'मैं' और 'मेरा'** में फँसा। नहीं तो जब मैं अपनी माँ के गर्भ में था तब मैंने स्वयं के लिए यह नहीं कहा, कि **'मैं'** माँ के गर्भ में हूँ। नाम-रूप की प्रतीति में आने पर ही मैंने कहा, कि "मैं माँ के गर्भ में था, मैं पैदा हुआ था।" नवजात शिशु को अपने पैदा होने का ज्ञान नहीं होता और उसे कोई उसके पैदा होने की बधाई नहीं देता। उसके निजी सम्बन्धियों को उसके जन्म की बधाई दी जाती है। ये सब भी देह की अवस्थाएँ हैं। जब मैं भ्रूणावस्था में था तो **'मैं'** था। जब मैं माँ के गर्भ में था तो **'मैं'** था, जब मैं पैदा हुआ तो **'मैं'** था। लेकिन तब मुझे अपने होने की होश नहीं थी। यह सब तो छोड़िए, हम रोज़ सोते हैं। निद्रा हमारे दैनिक जीवन की अनिवार्य घटना है, जिसके लिए मैं कभी नहीं कह सकता, कि **'मैं'** सो रहा हूँ' मैं यही कह सकता हूँ कि **'मैं'** सो रहा था अथवा मैं सोऊँगा।' जो गहनतम् आध्यात्मिक रहस्य हैं वे आपको दैनिक जीवन की छोटी-छोटी लेकिन महत्त्वपूर्ण विधाओं में छिपे मिल जाएँगे। कोई भी नहीं कहता 'मैं मर गया हूँ।' अथवा 'मैं ख़ाक बन गया हूँ।' इसके अतिरिक्त भी

कई अवस्थाएँ हैं, जैसेकि शैशवावस्था, मूर्च्छावस्था, विस्मृति की अवस्था आदि जिनमें देह 'मैं' को छोड़ देती है। लेकिन सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था और भस्मावस्था ये तीन अवस्थाएँ ले लीजिए, जो सबके ऊपर अवश्य गुज़रती हैं और वे निश्चित तौर पर देह की अवस्थाएँ हैं।

सोना तो रोज़ की घटना है। कोई नहीं कहता कि 'मैं सोया हुआ हूँ' अर्थात् **जब देह सोती है तो 'मैं' को छोड़ देती है, नहीं तो 'मैं' को कभी नहीं छोड़ती।** सुषुप्तावस्था में देह को अपने पद, प्रतिष्ठा का कोई अहं नहीं होता। एक राजा अपने आलीशान महल में सोया है, उसे सोते हुए उठाकर नींद में ही उसके सेवक के बिस्तर पर सुला दो, वह कुछ नहीं कहेगा। सोए हुए व्यक्ति का स्वयं में कोई धर्म नहीं होता, कोई कर्म या कर्तव्य नहीं होता, कोई देश-काल नहीं होता। सोए हुए व्यक्ति की कोई मर्यादा भी नहीं होती। अतः जब देह सोती है, तो इन सब विधाओं से परे होती है। उस समय यह **'मैं'** को भी छोड़ देती है। जागृति में **'मैं'** को विचार-चिन्तन का अवसर मिल जाता है, कि इस देह ने कभी नहीं कहा कि मैं सोई हूँ, अतः यदि **'मैं' देह में अपनी विशुद्ध जागृति चाहता हूँ तो क्यों न मैं अपनी जागृति में देह को सुला दूँ।** क्योंकि जब देह जागृति में होती है तो मेरी **'मैं'** को अपने साथ सम्पृक्त रखती है—मैं पुण्यी हूँ, मैं पापी हूँ, मैंने खो दिया, मैंने पा लिया और जब सुषुप्त स्थिति में होती है तो **'मैं'** को छोड़ देती है। उस समय यह कालातीत, देशातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, मर्यादातीत, सम्बन्धातीत, मायातीत, लिंगातीत होती है। ये समस्त गुण मेरे हैं। **जब देह जाग्रत अवस्था में आती है तो अपने समस्त अवगुणों में मुझे लपेट लेती है।** जाग्रतावस्था में देह अपना सब कुछ मुझ पर थोप देती है और सभी पाप-पुण्य किए इस देह ने होते हैं। जब यह सोती है तो **इस देह में मेरे समस्त ईश्वरीय गुण विद्यमान होते हैं, क्योंकि यह सोती है।** यह सब **'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा विचार करती है। यदि मैं देह की उस अवस्था से आत्मसात् हो जाऊँ जैसी अवस्था में देह सुषुप्त होती है, तो मेरी **'मैं'** जाग्रत हो जाएगी। एक गीत है न:—

''राम करे ऐसा हो जाए, मेरी निंदिया तोहे लग जाए,
'मैं' जागूँ 'तू' सो जाए।''

यह समाधि है। यहाँ **'मैं'** जीवात्मा है और **'तू**' देह है। आपको उस स्थिति से आत्मसात् होना होगा, जहाँ आपकी विशुद्ध **'मैं'** जाग जाए। आपको आभास होगा कि जो ईश्वर के गुण हैं, वही जीवात्मा के भी हैं। **योगी जब समाधिस्थ होता है तो उसकी मानसिक अवस्था देह की सुषुप्तावस्था जैसी होती है।** जब देह सोती है तो उसमें विशुद्ध जीवात्मा के समस्त ईश्वरीय गुण प्रकट हो जाते हैं। अतः जीवात्मा देह को सुषुप्त, मृतक और भस्मित देखना चाहती है। **जब वह देह को सुषुप्त देखती है तो वही इसकी जागृति है, जब मृतक देखती है तो वही इसका अमरत्व है और जब देह को भस्मित देखती है, तो वही इसका शिवत्व है।** जब देह वास्तव में सुषुप्त, मृतक और भस्मित होती है तो **'मैं'** को छोड़ देती है। सद्गुरु-कृपा से मुझे ज्ञान होता है कि इन अवस्थाओं में चाहे देह स्वयं को मुझसे नहीं पहचानती लेकिन **'मैं'** होता अवश्य हूँ। यहाँ **'मैं'** को अपने एक ऐसे स्वरूप का आभास होता है, जो देह की नाम-रूप की प्रतीति से परे है। जहाँ देह स्वयं को **'मैं'** से नहीं पहचानती। यदि हम अपनी देह की इन तीन अवस्थाओं पर गहन विचार करें तो निश्चित रूप से हमारी खोई हुई **'मैं'** हमें मिल जाएगी। क्योंकि देह की यही तीन अवस्थाएँ ऐसी हैं, जिनमें **'मैं'** देह के साथ सम्पृक्त नहीं रहती और देह स्वयं में नाम-रूप की प्रतीति में नहीं होती। जीवात्मा की **'मैं' खोई भी देह में है और देह से ही मिलेगी।**

हम सब भली-भाँति जानते हैं कि जो देह पैदा हुई है, वह मरेगी अवश्य और फिर उसकी भस्मी भी अवश्य बनेगी। लेकिन तब मैं नहीं रहूँगा, क्योंकि **'मैं'** ने स्वयं को देह ही माना है। निद्रा तो हमारे नित्य के दैनिक जीवन की एक आवश्यक व महत्त्वपूर्ण घटना है। देह की एक निश्चित अवस्था है, जो **'मैं'** जानता हूँ। सुबह रोज़ **'मैं'** सोकर उठता हूँ और स्वयं को तरोताज़ा अनुभव करता हूँ, लेकिन मैं यह कभी नहीं कह सकता कि **'मैं'** सोया हुआ

हूँ। 'मैं सोया था' अथवा 'मैं सोऊँगा' यही कह सकता हूँ। जब जाग्रत होकर मैं कहता हूँ कि **'मैं'** जागा हुआ हूँ, इसका जो वर्तमान है वह मेरी देह का वर्तमान है, इसका जो अतीत था, वह भी मेरी देह का अतीत था और जो भविष्य होगा तो वह भी देह का ही होगा। उस सबमें मैंने **'मैं'** को जोड़ा हुआ है। जब मैं सोया हुआ था, तब मेरी **'मैं'** ने अपने उस वर्तमान की अनुभूति नहीं की। इसीलिए निद्रा जड़ता है। **लेकिन जब मैं समाधिस्थ होता हूँ तो देह को नाम-रूप की प्रतीति नहीं होती, केवल 'मैं' ही 'मैं' होता हूँ। वह मेरी चेतन 'मैं' है। जितनी अनुभूतियाँ हैं, वे सब उस वर्तमान जाग्रत 'मैं' की हैं, जब 'मैं' देह के साथ तद्‌रूप नहीं होती।**

सुषुप्ति की मानसिकता को हम अपनी जागृति में उत्पन्न कर लें। जिसमें मैं जाग्रत हूँ और मेरी नाम-रूप की चेतना समाप्त हो जाए। वही मेरी जाग्रत **'मैं'** है, चेतनता है तथा वही जीवात्मा है। इस प्रकार **'मैं'** अपनी जागृति में देह की सुषुप्तावस्था की मानसिक स्थिति में विचरती है। देह की मृतकावस्था और भस्मावस्था को अपनी ध्यान-समाधि में देखती है तो वहीं से इसकी परम जागृति, अमरत्व व शिवत्व प्रस्फुटित होना शुरू हो जाता है। 'मैं' सुषुप्त हूँ, मैं मृतक हूँ, मैं भस्मी हूँ, देह की इन तीनों अवस्थाओं को **'मैं'** आत्मसात् करती है। **जहाँ देह की पकड़ से 'मैं' छूट जाती है, वहाँ 'मैं' देह को पकड़ लेती है और जीव को उसकी विशुद्ध 'मैं' (जीवात्मा) मिल जाती है।**

अपनी जाग्रतावस्था में **'मैं'** देह की सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था व भस्मावस्था में से किसी को आत्मसात् किए बिना अपने विशुद्ध स्वरूप को नहीं पा सकती। यहाँ सद्‌गुरु उसका दिशा-निर्देशन करता है। जब **'मैं'** देह को सुषुप्त देखती है, तब भी देह तो नाम-रूप में होती है, जब मृतक देखती है तो भी नाम-रूप में होती है। देह नाम-रूप में सक्रिय नहीं होती लेकिन नाम-रूप में तो होती ही है। अतः सद्‌गुरु कृपा से **'मैं'** देह को भस्मावस्था में देखना चाहती है, क्योंकि भस्मी सबकी समान है। **मृत्यु-योग में आपकी 'मैं' विस्तृत हो जाएगी, लेकिन देह नाम-रूप में रहेगी। सुषुप्तावस्था में**

देह को देखने पर विशुद्ध 'मैं' के गुण आप में प्रकट होने शुरू हो जाएँगे, लेकिन उन गुणों का सदुपयोग नहीं हो पाएगा। देह की भस्मावस्था में स्वयं को देखने पर आपकी विशुद्ध 'मैं' प्रकट होकर अपने गुणों का सदुपयोग करेगी।

सद्शिष्य सद्गुरु से पूछता है कि 'मेरी उस विशुद्ध **'मैं'** का स्वरूप क्या है? सद्गुरु उसे बताता है कि अपनी देह के अन्त के अन्त की भस्मी से चुटकी भर भस्मी लेकर, अपनी देह के जन्म के आदि में जब तू पंच-प्राणों का ज्योति-पुंज था, उससे टिमटिमाती हुई लौ को उस चुटकी भर भस्मी पर लगा दे, **यही दिव्य-ज्योति तेरा स्वरूप है। जिसका आधार भस्मी है और जिसकी लौ पंच-प्राणों का संगम है, यही जीव-ज्योति है, यही जीवात्मा है।**

जीवात्मा अपने परम पिता शिव और माँ जगदम्बा दोनों के गुणों का संगम है। उन दोनों की एकमात्र सन्तान है। देवाधिदेव महादेव की पंच-प्राणों की टिमटिमाती हुई लौ इसका सच्चिदानंद स्वरूप है। जिसका आधार महामाया के प्रकटीकरण, सम्पूर्ण कोटि-कोटि मायिक ब्रह्माण्डों की चुटकी भर भस्मी है। पूर्ण रूप में जीवात्मा न माँ से मिलती है, न पिता से। यह दोनों के गुणों के आनन्द में विचरती है। माया महतारी बनकर इसकी सेवा में रहती है और 84 लाख मायिक विधाओं का आनन्दमय प्रकटीकरण दिखाती रहती है तथा जीवात्मा सबका आनन्द लेती है। जीवात्मा माँ और पिता दोनों का लाडला एकमात्र पुत्र है। जब चाहे माँ की गोद में खेलता है; जब चाहे पिता की गोद में खेलता है, क्योंकि स्वयं में मात्र पंच-प्राणों की ज्योति और चुटकी भर भस्मी बना रहता है। खोई **'मैं'** ही थी। इसीलिए **तू** (ईश्वर) खो गया था। **'मैं' और 'तू'** तो आमने-सामने ही थे, कभी अलग हुए ही नहीं। **'मैं'** तेरी निगाहों से ओझल क्यों हो गया, क्योंकि **'मैं'** खो गया, दुनियादारी में उलझ गया, भस्मी को भूल गया। जब मैं जागा, तो मेरे सम्मुख तुम थे, क्योंकि मैं तुम्हारी इकलौती सन्तान हूँ। **तू** है तो **'मैं'** हूँ, तेरे-मेरे समस्त गुण मिलते हैं। मुझमें-तुझमें एक ही अन्तर है कि मैं महा

असमर्थ हूँ, तुम परम समर्थ हो। मुझे शक्ति व सामर्थ्य चाहिए ही नहीं। तुम अपनी शक्ति से करोड़ों ब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन और संहार करते हो, मुझे इसका आनन्द लेने दो। मैं बस इस समस्त मायिक खेल की वाह-वाह करता रहूँ। **'मैं'** अपनी औकात में रहूँ, यही ठीक है मैं आनन्द में रहूँ क्योंकि :—

'' 'तू' है तो 'मैं' हूँ,
'तू' 'तू' है, 'मैं' 'मैं' हूँ,
'मैं' 'तू' नहीं हूँ,
'तू' 'मैं' नहीं है।''

'तोहि मोहि भेद कैसा, जल तरंग जैसा'

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(10, 11, 17, 18 जनवरी 2005)

'मैं' और देह

(भाग 4)

'मैं' को जब देहाध्यास और देहाधिपत्य हो जाता है तो **'मैं'** देह की तरह अपनी शक्तियों, क्षमताओं, विधाओं, व्यवहारों, सम्बन्धों, गुणों, परिस्थितियों, अवधारणाओं, मान्यताओं, कर्मों, कर्तव्यों, लक्ष्यों, मर्यादाओं और सब कुछ में अति सीमित, संकीर्ण, तुच्छ एवं संकुचित हो जाती है। **'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा है। वह ईश्वर की ही तरह स्वयं में निराकार है, कालातीत, सम्बन्धातीत, देशातीत, धर्मातीत, लिंगातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, मर्यादातीत व मायातीत है। **'मैं'** देह को अपना स्वरूप मानने के कारण इन सबमें बँध जाती है। उसी समय इसमें मोह जाग्रत हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह व अहंकार ये पाँचों विकार हो जाते हैं। इन सब विकारों का आधार यह मोह है कि **'मैं देह हूँ और देह मेरी है।'** यह अहंकार और ममकार जीवात्मा को जीव-कोटि में ले आता है और यह जीव 84 लाख मायिक योनियों में भटकता है। जन्म-जन्मान्तरों में देह परिवर्तित होती रहती है और इसकी **'मैं'** जीव-कोटि में उलझ जाती है। इसका वर्तमान यानि आनन्द आच्छादित हो जाता है, क्योंकि वर्तमान में विचरण ही आनन्द है। जब भूत और भविष्य भूल जाता है, वही आनन्द की स्थिति होती है। वर्तमान में कुछ देर के लिए काल-बन्धन से मुक्त होकर जीव अकाल हो जाता है।

जैसे ही देहाध्यास और देहाधिपत्य होता है, तब प्रायः हमारा वर्तमान, भूत अथवा भविष्य से आच्छादित हो जाता है। हम भयभीत, चिन्तित, त्रसित, स्वार्थी, विक्षिप्त, विदीर्ण, संकीर्ण, विकृत और ईर्ष्या, द्वेष, वैर, वैमनस्य से ग्रसित हो जाते हैं। हम, हम नहीं रहते। **'मैं'** जब देह के साथ मोहवश,

अज्ञानवश, इच्छावश, मूर्खतावश, जानबूझकर या अनजाने में जुड़ जाती है तो स्वयं भी खो जाती है और अपने सच्चिदानंद ईश्वरीय स्वरूप को भी खो बैठती है। जैसे कोई बच्चा भटक कर अन्धकार में अपनी माँ को पुकारे कि माँ तुम कहाँ हो? और माँ भी पूछे कि बेटा तुम कहाँ हो? किधर से आवाज़ दे रहे हो, किसके पास हो? बच्चा स्वयं को ढूँढ नहीं पाता कि वह कहाँ है? इसी प्रकार जीवात्मा अथवा **'मैं'** स्वयं देह में खो जाती है, इसीलिए अपने सच्चिदानंद स्वरूप को भी खो देती है।

जितना भी दृश्यमान जगत है वह, देह वाली **'मैं'** को दिखाई देता है। देह स्वयं मायिक है। **'मैं'** निराकार है और देह साकार है। देह को इस निराकार **'मैं'** ने अपना स्वरूप मान लिया, कि 'मैं देह हूँ', अतः माया ही माया को देख रही है। **'मैं'** देह के साथ जुड़ कर इस दृश्यमान जगत में वही देख रही है, जो देह वाली **'मैं'** की संरचना है। कुछ पृथक्-पृथक् जीव एक ही वस्तु को देखें तो उस वस्तु के विषय में सबका निर्णय उनकी अपनी-अपनी बुद्धि, परिस्थिति, अवस्था आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा। दृश्यमान जगत को विभिन्न देह देख रही हैं, परन्तु सभी कहते हैं कि **'मैं'** देख रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ आदि-आदि।

एक ही वस्तु मुझे एक समय में बहुत अच्छी लगती है और वही वस्तु किसी दूसरी, परिस्थिति, देश व काल में मुझे बेकार लगती है। कभी कुछ सुनकर मैं आत्म-विभोर हो जाता हूँ और दूसरी बार वही सुनकर मैं अस्त-व्यस्त व त्रसित हो जाता हूँ। अर्थात् एक समय, देश, काल, परिस्थिति में मेरी एक मानसिक स्थिति होती है। **'मैं'** उसके अनुसार ही देखता, सुनता, चखता, सूँघता व स्पर्श करता हूँ। वे ही दृश्य, शब्द, व्यंजन, पदार्थ मेरी मानसिक स्थिति के साथ जब मेल नहीं खाते, तो मुझे अच्छे नहीं लगते। **सुनते मेरे कान नहीं हैं, देखती मेरी आँखें नहीं हैं, चखती मेरी जिह्वा नहीं है, सूँघती मेरी नाक नहीं है, स्पर्श मेरी त्वचा नहीं करती, बल्कि मेरा मन करता है।** अतः जो जगत दृश्यमान हो रहा है, जिसे हम अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण करते हैं, उसमें 84 लाख मानसिक

विधाएँ हैं। उस वक़्त हम जिस भी मानसिक स्थिति में होते हैं, हमारा जगत उस समय वैसा ही होता है, **'जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'। जब मैं स्वयं को देह के साथ पहचानता हूँ तो मैं जिस भी मानसिक स्थिति में होता हूँ, उस समय मेरा सम्पूर्ण जगत उसी योनि का होता है।** वह मानसिक स्थिति ही उस समय मेरी योनि है और मैं उसी योनि में विचरता हूँ। अब माँस-मदिरा का सेवन कर लो, जुआ आदि खेलो, तो मानसिक जगत उसी योनि में विचरेगा। मुझे चोर, ठग, शराबी, जुआरी लोग ही मिलेंगे। मैं न स्वयं से सन्तुष्ट हूँगा, न अपने धन से और न ही परिवार व परिवेश से। उस समय मेरा मानसिक जगत वैसा ही होगा।

अब आप स्वयं के होश सम्भालने से आज तक अपना व अपने जगत का विश्लेषण करें। आपकी **'मैं'** ने देह से स्वयं को पहचाना कि मैं अमुक हूँ। जब बचपन में हम जानवरों, परियों की कहानियाँ सुनते थे उस समय बच्चे के रूप में हमारा जगत मानसिक स्थिति के अनुसार था। बच्चा माँ से पूछता है कि शेर ने खरगोश को क्यों मार दिया तो माँ बताती है कि वह बहुत नटखट व शरारती था। उस समय बच्चे का वही जगत है। वह उसी जगत में विचर रहा है। हम उसके इस जगत का आनन्द लेते हैं, क्योंकि हमारे लिए उसका कोई महात्म्य नहीं होता, लेकिन बच्चा उस कहानी के अनुसार तनावित, दुःखी व प्रसन्न हो जाता है। मेरे लिए महत्त्वपूर्ण मेरी मानसिक स्थिति है। **'मैं'** यदि इस बच्चे का बाप हूँ तो मैं इस स्थिति को किस रूप में ले रहा हूँ। कभी बच्चा अपनी मस्ती में शोर मचा रहा है और मैं किसी समस्या में उलझा हूँ तो उसे थप्पड़ मार देता हूँ, कि शोर मत करो। एक समय एक बच्चे की किलकारी सुनने को जो 'मैं' तड़प रहा था, आज जब घर उसकी किलकारियों से गूँज रहा है, तो उससे तनावित हो जाता हूँ। मुझे उसका खेल शोर लगता है। **जिस समय जो मेरी मानसिक स्थिति होती है, उस समय मेरी योनि भी वही होती है। देह तो एक माध्यम है, जिसके द्वारा प्रकटीकरण होता है, जिसे 'मैं' देह की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से देखता हूँ, सुनता हूँ, चखता हूँ, सूँघता हूँ और स्पर्श करता हूँ।**

'मैं' मानवीय मानस हूँ। मैंने स्वप्न देखा। उसमें 'मैं' एक स्वप्न की देह के रूप में कहाँ-कहाँ विचर आया और एक 'मैं' उस वक्त पलंग पर सुषुप्त था, कहीं गया नहीं था। स्वप्न को छोड़ो इस तथाकथित जाग्रत अवस्था में 'मैं' एक देह के रूप में कहीं बैठा हूँ और अपने ख़याल में कहीं का कहीं पहुँच जाता हूँ। तो मैं एक ख़याल की देह निर्मित कर लेता हूँ। जहाँ मैं एक देह के रूप में तथाकथित जाग्रत बैठा हूँ, वहाँ होकर भी नहीं होता। अपनी ख़याल की सृष्टि में होता हूँ और उस ख़याल की देह व सृष्टि के दुःख-सुख की झलक मेरी इस देह पर भी झलकती है। तो महत्त्वपूर्ण यह है कि मेरी **'मैं'** मुझे कहाँ लेकर जा रही है। मैं उस समय उसी लोक में विचरता हूँ और मेरी उस समय वही योनि होती है जिसके अनुसार मेरा सम्पूर्ण जगत निर्मित होता है।

एक ही घर है जहाँ एक व्यक्ति नारकीय जीवन व्यतीत कर रहा है, दूसरा स्वर्ग व वैकुण्ठ का आनन्द ले रहा है। एक ही व्यक्ति एक समय एक ही परिस्थिति में अति दुःखी होता है, दूसरे किसी दिन उसी परिस्थिति में आनन्दित हो जाता है। इस प्रकार देह तो मेरा एक बाना या चोला है, जिसको 'मैं' अपने साथ सम्पृक्त करके 84 लाख विभिन्न मानसिक विधाओं अथवा योनियों में भटकता हूँ। **'मैं'** ने देह को अपना स्वरूप मान लिया कि **'मैं देह हूँ'** तो देह मेरे मानस का ही प्रकाट्य है। रात को स्वप्न में मैं दुःखी या सुखी क्यों होता हूँ? क्योंकि मेरा मानस **'मैं'** के रूप में उस स्वप्न-सृष्टि में विचरता है जिसका निर्माता, पालनकर्ता व संहारकर्ता प्रभु है। स्वप्न-सृष्टि आपकी **'मैं'** की एक योनि है, उसमें आपकी एक देह विशेष होती है तथा एक जगत विशेष होता है और उस जगत में विशेष रूप से विचरण होता है। **यह समस्त स्वप्न-सृष्टि एक ही मानस की संरचना है जिसमें मेरी देह भी होती है, जो एक विशेष योनि में होती है और उसी के अनुसार मेरा जगत होता है।** उस स्वप्न से उठने पर मेरी जाग्रत देह पर भी उसका प्रभाव होता है, हालाँकि वह देह तो स्वप्न में थी ही नहीं। परन्तु **'मैं'** एक ही है जो स्वप्न-सृष्टि में स्वप्न वाली देह के साथ सम्पृक्त थी और जाग्रत होने पर तथाकथित जाग्रत देह के साथ जुड़ी है। यदि स्वप्न कुछ भयानक हो तो

आपको पसीना आया हुआ होगा, आप कुछ घबराए-से होंगे। न केवल स्वप्न-सृष्टि में, तथाकथित जागृति में भी जब आप किसी ख़याल में होते हैं, तो ख़याल की सृष्टि के दुःख-सुख आपकी देह में प्रतिबिम्बित होते हैं।

एक विशेष देश, काल, परिस्थिति में मानस जिस योनि में विचर रहा है, आपकी **'मैं'** देह के माध्यम से उसी के अनुसार जगत निर्मित करती रहती है। वह सारा जगत एक ही मानस से नियन्त्रित होता है। यहाँ केवल स्वयं और अपनी एक देह को लेना है। जब **'मैं देह हूँ'** यह अध्यास मुझे हो जाता है, तो 'मैं' देह के माध्यम से 84 लाख योनियों में विचरता हूँ। जो मेरी मानसिक स्थिति होती है या मेरी योनि होती है उसी के अनुसार मेरा स्थूल व सूक्ष्म-मण्डल होता है। जो हमने **'मैं और देह'** शीर्षक प्रवचन के प्रथम भाग में कहा कि परिस्थितियाँ, अवस्थाएँ, गुण, धर्म, विधाएँ, स्वभाव आदि देह के हैं। वस्तुतः वह देह के न होकर मानस के हैं। **'मैं'** निराकार मानस हूँ। जब देह के साथ तद्रूप हुआ तो प्रतीत हुआ कि वे देह की अवस्थाएँ, विधाएँ व परिस्थितियाँ आदि हैं, परन्तु वे मेरे मानस की हैं। देह को मैंने अपना स्वरूप मान लिया तो उनका प्रस्तुतिकरण देह में हुआ।

देह नश्वर है। समय पूरा होने पर चली गई, लेकिन उन्हीं परिस्थितियों, अवस्थाओं, प्रकृति, गुण, धर्म का बोझ लिए **'मैं'** रूपी मानस बना रहा और पुनः एक देह धारण की। आसक्तियाँ देह की नहीं हैं, मानस की हैं। 'मैं' जिस स्थिति में होता हूँ, उसी का प्रस्तुतिकरण व प्रतिग्रहण 'मैं' अपनी देह के माध्यम से करता हूँ। चराचर जगत में **'मैं'** जिस विशेष योनि में होता है, मेरा सारा सूक्ष्म-मण्डल उसी के अनुसार होता है। यह 84 लाख योनियाँ वस्तुतः शिव की शक्ति की विभिन्न विधाएँ हैं। शक्ति जो स्वयं में निराकार है और शिव से अभिन्न है, वह शक्ति एक लिंग की है। उसका मायिक प्रकटीकरण इन 84 लाख योनियों में होता है, जोकि उसकी क्रीड़ा है। एक ही लिंग-शक्ति अनेक-रूपा होकर 84 लाख मायिक विधाओं अथवा योनियों में खेलती है।

जब 'मैं' देह को उसके उस स्वरूप में देखता हूँ जब यह सुषुप्त होती

है, मृतक होती है या भस्मित होती है तो देह मुझे छोड़ देती है। (जिसका सविस्तार वर्णन मैंने **'मैं और देह'** शीर्षक प्रवचन के भाग 3 में किया है)। यहाँ **'मैं'** नाम-रूप की देह से स्वयं को नहीं पहचानता। नहीं तो देह की हर अवस्था, परिस्थिति, देश, काल, निवास, सम्बन्ध, विधा में **'मैं'** स्वयं को देह के साथ तद्रूप किए रहता है। मैं बच्चा हूँ, मैं जवान हूँ, मैं लन्दन में हूँ, मैं भारत में हूँ, मैं अच्छा हूँ, मैं बुरा हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यी हूँ, मैं कल आऊँगा, मैं गया था इत्यादि। लेकिन **'मैं'** यह कभी नहीं कहता **कि मैं सोया हूँ, मैं मरा हूँ या मैं भस्मी हूँ। अतः देह की ये तीन निश्चित व निराकार स्थितियाँ हैं, जब देह नाम-रूप की चेतना में नहीं होती, लेकिन उन स्थितियों में भी 'मैं' होता हूँ।**

यदि मैं देह को नाम-रूप की चेतना के बिना देखूँ तो मेरे लिए देह का अस्तित्व तो समाप्त हो जाएगा। दैहिक जाग्रतावस्था में **'मैं'** देह को उस अवस्था में देखूँ जब देह नाम-रूप की प्रतीति में नहीं है। इस समस्त जीव-जगत में **'मैं'** का देह-रूप से जितना वैविध्य और अनेकरूपता है, वह नाम-रूप की प्रतीति में है। यहाँ समस्त अहं, राग, द्वेष, वैर, प्रेम, वैमनस्य व घृणा आदि नाम-रूप की चेतना में ही हैं। एक सोए हुए, मरे हुए या भस्मी बने हुए व्यक्ति को किसी से क्या मतलब होगा? एक व्यक्ति ज़मीन पर सोया, एक पलंग पर सोया तो दोनों को सोते समय तो परस्पर बड़े-छोटे होने की अनुभूति नहीं होगी। तो राग-द्वेष, छोटा-बड़ा, दोस्ती-दुश्मनी, मिलना-बिछुड़ना, पद, प्रतिष्ठा, आर्थिक स्तर, देश, काल की जो भी गणना होगी, वह नाम-रूप की चेतना से जुड़ी हुई है। सुषुप्ति, मृतकावस्था और भस्मावस्था में हमारे समस्त विकार और सुकृतियाँ समाप्त हो जाती हैं। ये तीनों अवस्थाएँ सहज जड़ हैं, जहाँ न तो **'मैं'** को अपने विशुद्ध स्वरूप की चेतना होती है और न ही देह के नाम-रूप की चेतना होती है। यानि वहाँ देह के नाम-रूप की प्रतीति तो नहीं होती, मगर ईश्वर की भी धारणा नहीं होती।

जैसे पंच-महाभूत सहज जड़ हैं, उसी प्रकार देह की निद्रावस्था, मृतकावस्था और भस्मावस्था में मेरी **'मैं'** भी सहज जड़ होती है। उस समय

जब मुझे अपनी देह के नाम-रूप की चेतना नहीं होती तो मैं समस्त रोगों, दोषों, भयों, विकारों, पापों, पुण्यों, शुभ-अशुभ सबसे तो मुक्त हो जाता हूँ लेकिन उस समय मुझे ईश्वर यानि अपने स्वरूप की भी चेतना नहीं होती। अतः वह मेरी मानसिक स्थिति बन जाए, जिसमें मुझे मेरी चेतना तो हो लेकिन अपनी देह की चेतना समाप्त हो जाए। मेरी वह मानसिक स्थिति हो कि मैं जाग्रत हूँ और मुझे मेरी देह के नाम-रूप की प्रतीति न हो तो मुझे मेरी **'मैं'** मिल जाएगी और मैं 84 लाख योनियों की भटकन से मुक्त हो जाऊँगा। मेरी देह के साथ तद्‌रूपता में, मेरे मानस रूपी **'मैं'** ने मुझे 84 लाख मायिक विधाओं या योनियों में भटकाया। जब देह के साथ मैं तद्‌भाव कर लेता हूँ तब सम्पूर्ण माया का प्रदूषण मुझमें व्याप्त हो जाता है। मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है, मैं उसे दिखा दूँगा आदि-आदि भाव विचरने लगते हैं। तब देह के साथ एक-रूप होकर मेरा मानस और देह उलझ जाते हैं और मैं 84 लाख योनियों में भटकता हूँ।

मैं उस स्थिति को देखता हूँ जिस समय देह अपने निराकार स्वरूप में हो, नाम-रूप से परे हो और मैं जाग्रत हूँ। तब मेरी सर्वव्यापी एक ही **'मैं'** हो जाएगी। सबकी देह भिन्न-भिन्न है जो मुझे भिन्न-भिन्न इसलिए लग रही है, क्योंकि मैंने एक देह को **'मैं'** समझा हुआ है। यदि इसमें से मैं **'मैं'** को अलग-थलग कर दूँ तो मुझे अनुभूति हो जाएगी कि उसी एक **'मैं'** से यह सारा स्वप्न-जगत प्रकट हुआ है। पहले ईश्वर एक देह को प्रकट करता है, फिर उस अवस्था व योनि के अनुसार उसका सम्पूर्ण जगत प्रकट करता है। जब मैं अपनी उस **'मैं'** में आ जाता हूँ और देह को नाम-रूप की प्रतीति से परे देखता हूँ तो मेरे लिए सम्पूर्ण जगत लय हो जाता है। मेरे मानस रूपी **'मैं'** ने जब एक देह को खड़ा किया तो उस देह ने उस योनि अथवा मायिक विधा के अनुसार सारा संसार निर्मित किया। वही लोग जो मुझे कभी बहुत अपने या प्यारे लगते थे, मुझे शत्रुवत् लगने लगे। वही मौसम जिसमें मैं खो जाता था, मुझे दुःखद लगने लगा। वही व्यंजन जिनका भोग करने के लिए मैं तरसता था, मुझे बेस्वाद लगने लगे, वही संगीत जो कभी मुझे मुग्ध करता

था, कर्ण-बेधी लगने लगा, वही सुन्दर दृश्य मेरे नेत्रों को चुभने लगे। वही सुगन्ध मुझे दुर्गन्ध लगने लगी और कभी मन-भावन लगने वाला स्पर्श भी मुझे काटने लगा। अपनी मानसिक स्थिति के अनुरूप ही मेरी देह में प्रतिक्रिया होने लगी। कोई यदि कहता है कि मुझे बहुत बुरे और डरावने स्वप्न आते हैं तो उससे कहा जाता है कि तुम ईश्वर का नाम-जाप करके अथवा थोड़ा गंगाजल पीकर सोया करो, तो ठीक हो जाओगे। क्योंकि इससे मानस ईश्वरीय हो जाएगा। नाम-रूप की प्रतीति से परे होने पर इसकी **'मैं'** की दिशा बदल जाती है। पहले वह नाम-रूप की देह में आकर संसार में आ गई थी, 84 लाख योनियों में भटक गई थी और उसी योनि के अनुसार संसार निर्मित किया था। योनि की 84 लाख मायिक विधाएँ हैं, हर देह योनि से ही प्रकट होती है, लेकिन लिंग एक ही हैः—

''निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवो ऽहम्।''

जब **'मैं'** की दिशा बदलती है और वह जाग्रतावस्था में देह को सुषुप्त, मृतक और भस्मित देखती है तो वह चेतन **'मैं'** होती है, और वहाँ सुषुप्ति, मृतकावस्था और भस्मी भी स्वयं में चेतन हो जाती है। सुषुप्ति, भस्मी अथवा शव **'मैं'** को नहीं देख सकते, लेकिन **'मैं'** अपनी नाम-रूप की देह को सुषुप्त, शव और भस्मी रूप में देख सकती है। देह सुषुप्त है और जो **'मैं'** उसे देख रही है, वह **'मैं'** जाग्रत है। देह मृतक है और जो **'मैं'** उसे देख रही है, वह **'मैं'** अमर है। देह भस्मी है और जो **'मैं'** उसे भस्मित देख रही है, वह **'मैं'** शिव है, लिंग-रूप है। वही मेरा जाग्रत, अमरत्व व शिवत्व-स्वरूप है। एक ही **'मैं'** है, जो विशुद्ध जीवात्मा है। उस समय मेरा मानस स्थिर, शान्त व सशक्त ईश्वरीय मानस हो जाता है। उस समय मेरे सामने **'तू'** यानि ईश्वर होता ही है। नर और नारायण कभी अलग नहीं होते। उस समय मैं देह धारण करता हूँ और उस स्थिति में जब **'मैं'** परिपक्व हो जाता हूँ तथा मुझे परिपक्वता की मान्यता हो जाती है कि यह देह के नाम-रूप की समस्त सृष्टि है। मैं यह देह नहीं हूँ, देह मेरे खेलने के लिए है। उस स्थिति में मेरी **'मैं'** सर्वव्यापी एक ही हो जाती है। रोगी, स्वस्थ, राजा, रंक, अच्छा, बुरा,

पापी, पुण्यी सब लीला मात्र हो जाते हैं। **उस समय खेलने के लिए जब मैं देह धारण करता हूँ तो वह मेरा अवतरण होता है, जिसमें मेरा नारायण मेरे साथ होता ही है क्योंकि वह मेरा अस्तित्व है।** उसके बिना **'मैं'** नहीं होता, फिर मैं लिंग-रूप होते हुए भी विभिन्न मानसिक स्थितियों, मायिक विधाओं और योनियों में खेलता है। वह सब मेरे आनन्द का बाह्य प्रकटीकरण होता है। सब खेल स्वप्नवत् होता है। उसमें सभी कृत्यों, खोने, पाने, मिलने, बिछुड़ने का कोई महात्म्य नहीं होता। वह सब मेरी लीला होती है। वह **'मैं'** जितने भी दृश्य देखता है, उसमें फँसता नहीं है। सबका आनन्द लेता है। उसका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं होता और वह सब सम्बन्धों में विचरता भी है। किसी भी एक अवस्था से नहीं बँधता कि मैं सन्यासी हूँ, गृहस्थी हूँ या वानप्रस्थी हूँ, मैं वृद्ध हूँ या जवान हूँ, मैं धनी हूँ या निर्धन हूँ, मैं रोगी हूँ या स्वस्थ हूँ, सब अवस्थाएँ उसी की ही होती हैं:—

''न मैं बन्दा था न मैं खुदा था,
दोनों इल्लत से जुदा था, मुझे मालूम न था,
चाँद बदली में छिपा था, मुझे मालूम न था,
मैं खुद ही खुद में पर्दा बना था, मुझे मालूम न था।''

वह **'मैं'** का लिंगातीत लिंग-रूप है, जहाँ योनियाँ समाप्त हो जाती हैं। वह **'मैं'** पूजनीय है। मेरी गतियाँ ऊर्ध्व होती हैं। **वह 'मैं' कालातीत काल में विचरती है, वह मायातीत माया में खेलती है, वह त्रिगुणातीत तीनों गुणों में विचरती है, धर्मातीत धर्म धारण करती है, सारे धर्म उसी के होते हैं, कर्मातीत कर्म करती है, उसके कर्तव्यातीत कर्तव्य होते हैं, देशातीत निवास में रहती है, सम्बन्धातीत सम्बन्धों में खेलती है।**

वहाँ यह भी कहना नहीं बनता कि मैं स्त्री हूँ अथवा पुरुष हूँ, क्योंकि उस स्थिति में पुरुष और स्त्री का मुझे कोई भेद नहीं रहता। काल-बन्धन की भी वहाँ कोई धारणा नहीं रहती, क्योंकि कोई भी सोया हुआ व्यक्ति अकाल स्थिति में होता है। वह उठकर ही कहता है कि मैं इतने घण्टे सोया। इसी प्रकार मृतक और भस्मित अवस्था में भी व्यक्ति देश, काल, लिंग, सम्बन्ध,

धर्म, कर्म, कर्तव्य व माया के तीनों गुणों से परे होता है। जब आप अपनी सुषुप्ति, मृतकावस्था और भस्मावस्था को अपने जीते जी अपनी जागृति में देखेंगे, तो आप यह भी कह नहीं पाएँगे कि आप देश, काल, लिंग, सम्बन्ध, धर्म, कर्म, कर्तव्य व माया के तीनों गुणों से परे हैं। जब मैं उस अवस्था में होता हूँ तो मैं यह सब नहीं कह सकता, क्योंकि किसको कहूँ। वहाँ कोई दूसरा होता ही नहीं। **'मैं'** 'स्वान्तः सुखाय' बोल रहा हूँ, देह का आनन्द ले रहा हूँ। **वहाँ केवल मात्र 'मैं' होता हूँ फिर 'मैं' खेलने के लिए देह का अवलम्बन लेता हूँ। कोई देश, काल, धर्म, अवस्था, लिंग, सम्बन्ध आदि धारण करता हूँ, वह मेरा अवतार होता है। जीवात्मा रूप में 'मैं' विभिन्न योनियों और माया की विधाओं में विचरता हूँ। मुझमें कोई योनि नहीं विचरती। यह विभिन्न योनियाँ या मायिक विधाएँ मेरा खेल व लीला होती हैं।** जैसे माँ बच्चे को कभी पण्डित की वेशभूषा पहनाती है, कभी एक सैनिक की, ऐसे ही **'मैं'** अपना बाना बदलता हूँ और उसका भरपूर आनन्द लेता हूँ। देह के बिना **'मैं'** आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। देह का फिर मैं सदुपयोग करता हूँ, मैं जाग्रत हो जाता हूँ, मैं अमर हो जाता हूँ, मैं शिवत्व में आ जाता हूँ और मैं खेलता हूँ। मेरा इष्ट मुझे खिलाता है, क्योंकिः—

'' 'तू' है तो 'मैं' हूँ, 'तू' 'तू' है, 'मैं' 'मैं' हूँ
'मैं' 'तू' नहीं हूँ, 'तू' 'मैं' नहीं है।''

तेरी वजह से **मैं** हूँ, **मेरा** अस्तित्व **तू** है, फिर **तू** ही मेरे रूप में आकर खेल खिलाता है, खेलता है। जब यह **'मैं'** जाग्रत हो जाती है, तो जीवात्मा को इसकी भली-भाँति अनुभूति हो जाती है कि उसका अस्तित्व ब्रह्म है। जब नारायण किसी रूप में आता है, तो फिर भी उसे जीवात्मा की आवश्यकता पड़ती है, तो **'मैं'** भी नर-रूप में आता हूँ। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नर-नारायण की क्रीड़ा-स्थली है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(21, 22, 23 जनवरी 2005)

'मैं' और देह

(भाग 5)

जीवात्मा जब देह के साथ तद्‌रूप हो जाती है, कि 'मैं देह हूँ, देह मेरी है' तो निश्चित रूप से 84 लाख योनियों में भटकती है। प्रश्न उठता है जीवात्मा देह के साथ तद्‌रूप क्यों हुई तथा माया के वशीभूत क्यों हुई? जीवात्मा देह को अपना स्वरूप क्यों मान बैठी? जितना भी बाह्य जगत है, जिसे हम अपनी विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं, वह सब माया है। ईश्वर को न तो हम आँखों से देख सकते हैं, न कानों से सुन सकते हैं, न त्वचा से स्पर्श कर सकते हैं, न नाक से सूँघ सकते हैं और न ही जिह्वा द्वारा उसका स्वाद ले सकते हैं। लेकिन ईश्वरीय माया का प्रतिग्रहण हम अपनी इन इन्द्रियों द्वारा कर सकते हैं। इस सम्पूर्ण चराचर जगत की माया का जिस देह व इन्द्रियों द्वारा प्रतिग्रहण किया गया, वह देह भी स्वयं में मायिक थी। उसी माया का एक अंग थी। इस माया को जो देख रहा है, वह भी तो स्वयं में माया है। दो शराबियों को एक दूसरे से दुर्गन्ध कभी नहीं आती। जो परे खड़ा है, जिसने नहीं पी है, उसे अनुभव होगा कि ये शराबी हैं। इसलिए जीवात्मा फँस गई। **उसने इस समस्त मायिक जगत को मायिक देह के साथ तद्‌रूप होकर देखा और जो देखा उस मायिक देह, मन व बुद्धि के अनुरूप देखा। हमने एक भ्रम को दूसरे भ्रम से देखा, तो एक ही प्रस्तुति का प्रतिग्रहण विभिन्न देहों के अनुरूप पृथक्-पृथक् हो गया।** उसका प्रभाव भी अलग-अलग हो गया। मायिक प्रभाव यह हुआ कि एक जगत में रहते हुए भी एक ही दिन सबके लिए भिन्न-भिन्न हो गया। ये माया की 84

लाख योनियाँ हैं। दृश्यमान माया को जिस देह से हमने देखा, वह भी मायिक थी। अतः माया द्विगुणित हो गई। यहाँ आकर जीवात्मा भ्रमित हो गई, देह को अपना स्वरूप मानकर इस मायिक जगत में उलझ गई। **यदि जीवात्मा अपने अस्तित्व, ईश्वर के सम्मुख होती तो भ्रमित न होती, इस मायिक जगत का आनन्द लेती।** क्योंकि देह के साथ एकरूप हो गई, इसलिए ईश्वर-विमुख होकर सुखी-दुःखी होने लगी। जन्म-मृत्यु, खोना-पाना, अच्छा-बुरा, मिलना-बिछुड़ना और पाप-पुण्य में भटकने लगी। जबकि इसने किया कुछ नहीं था। इस सम्पूर्ण संसार महानाट्यशाला के नाटक को लिखने वाला और प्रस्तुत व निर्देशित करने वाला कोई और है। यह जीवात्मा तो मात्र दृष्टा थी और जो ईश्वर दिखा रहा है, उसका आनन्द लेकर वाह-वाह करने के लिए थी।

इसे एक बार पुनः समझिए। जगत जो दृश्यमान है, किसको दृश्यमान है? मेरी देह को दृश्यमान है, वह देह जो स्वयं मायिक है। तो मेरा मूल स्वरूप क्या है? मैं नहीं जानता। जब मैं उस स्वरूप से माया का प्रतिग्रहण करूँगा तो माया का वास्तविक आनन्द ले पाऊँगा। हम माया का आनन्द इसलिए नहीं ले पाते, क्योंकि हम इस माया को भी मायिक देह के साथ तद्रूप होकर ग्रहण करते हैं। उसी माया का एक अंग बन जाते हैं। जगत को मैं अपनी आँखों से देखता हूँ, बिना यह सोचे कि मेरी आँखों में ज्योति किसकी है। मेरे कानों में शब्द, जीभ में स्वाद, त्वचा में स्पर्श और नाक में गन्ध किसकी है, मैं नहीं सोचता। **जब अपने उस स्वरूप में मेरी प्रविष्टि हो जाएगी, तो मैं माया में उलझे बिना उसका आनन्द लूँगा। यदि मैं माया को दिव्य-दृष्टि से देखूँ, जो सबकी एक ही है, तभी यह सम्भव हो पाएगा।** दिव्य-दृष्टि वह है, जब मैं अपनी **'मैं'** को देह से पृथक् करके देखूँगा। मैं माया को दिव्य-दृष्टि से देखूँ तो यह मेरे लिए भी उसी प्रकार खेल है, जैसेकि ईश्वर के लिए है। ईश्वर का उद्देश्य माया द्वारा जीवात्मा को भ्रमित करना नहीं था, बल्कि आनन्द देना था। इसलिए आवश्यक है कि मुझे मेरी **'मैं'** का ज्ञान हो, 'कि मैं कौन हूँ?' फिर वही **'मैं'** देह को देखेगी और देह पर

आधारित जगत को देखेगी तथा दोनों का आनन्द लेगी।

शिव निराकार है, लिंग-स्वरूप है। वह शक्ति का स्वरूप है और माया शक्ति-रूपा है। वह अनेक रूप धारण करती है। **शक्ति जब रूप धारण करती है तो वह योनि से गुजरती है। योनि जननी है, जिसकी 84 लाख विधाएँ हैं।** ईश्वर, सच्चिदानंद-स्वरूप अजनित है, अजन्मा है। उसके आनन्द का मायिक प्रकटीकरण ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की यह माया है। इसका आनन्द लेने तथा प्रशंसा करने के लिए ईश्वर ने **अपने ख़याल के रूप में** जीवात्मा को इस मायिक जगत में उतारा। मैं इसे अति सरल करके आपको समझाने की चेष्टा करूँगा, आपकी अति श्रद्धा व एकाग्रता वांछनीय है।

मैं यहाँ कुछ लोगों के मध्य बैठा हूँ और मुझे अच्छा या बुरा कोई भी ख़याल आ गया। अब एक ख़याल का शिव कुमार निर्मित हो गया, जिसने एक ख़याल का जगत बनाया। उस जगत में भी कुछ लोग थे, जिनके साथ ख़याल के शिवकुमार का कुछ व्यवहार व वार्तालाप हुआ। उस ख़याल के जितने भी पात्र हैं, उनका आधार ख़याल का शिवकुमार है। उन सब विभिन्न पात्रों के रूप में वह स्वयं ही अपने साथ वार्तालाप व लेना-देना कर रहा है। उस क्रिया-कलाप का जो प्रभाव उस ख़याल के शिवकुमार पर होगा, वह यहाँ मेरे चेहरे पर भी आ जाएगा। **यह जो ख़याल का शिवकुमार है, वह जीवात्मा है जिसने एक देह धारण की। उस ख़याल का समस्त दृश्य व प्रकरण और उस प्रकरण के सब अंग उस जीवात्मा की एक योनि है।** अब जो ख़याल का शिवकुमार हँस रहा है और यहाँ मुझे हँसा रहा है, है वह भी नहीं। क्योंकि ख़याल से हटते ही मेरा वह रूप वर्तमान **'मैं'** में यहाँ आ जाता है और ख़याल की देह व उस पर आधारित सम्पूर्ण जगत समाप्त हो जाता है। लेकिन पुनः **'मैं'** किसी अन्य ख़याल में चला जाता हूँ। **ख़याल की प्रत्येक निर्मिति आनन्द में होती है। चाहे वह सुख का ख़याल हो या दुःख का हो।** यदि कोई ख़याल में दुःखी हो रहा है, तो उसके आस-पास बैठे लोग उसे ख़याल से बाहर लाने के लिए प्रयत्न करते हैं, लेकिन शीघ्र ही

वह फिर उस ख़याल में डूब जाता है। इस प्रकार ख़याल का सम्पूर्ण प्रकटीकरण आनन्द में होता है। **ख़याल का आधार वह ख़याल की देह ही दुःखी-सुखी होती है, लेकिन ख़याल करने वाला आनन्द में होता है।** तो हमारी जो ख़याल की देह है, अस्तित्व तो उसका भी नहीं है और ख़याल की कोई योजना आपने नहीं बनाई होती। आप यह नहीं जानते कि आज रात आप कौन सा स्वप्न देखेंगे। उस ईश्वरीय मानस ने आपके मन में क्या चित्रांकन करना है, यह आप नहीं जानते। आपके विभिन्न ख़याल ही जब स्वरूप धारण कर लेते हैं, उन्हें स्वप्न कहते हैं। जैसे आप स्वप्न में सुखी-दुःखी होते हैं, वैसे ही ख़याल में भी होते हैं।

इसे समझने के लिए आप स्वयं किसी ख़याल में विचरण करिए, कि मैं व्यापार के लिए वहाँ जाऊँगा, वहाँ मुझे ये-ये लोग मिलेंगे, इतनी पूँजी लगेगी और मुझे इतना लाभ होगा। यह सब ख़याल में ही होगा, जिसमें एक रूप में आप भी होंगे और उस सम्पूर्ण ख़याल की सृष्टि के आधार आप ही होंगे। ख़याल के आपके उस रूप का अस्तित्व भी तो वास्तव में मायिक ही है। यदि हम आपको ख़याल से जगाएँ कि भाई कहाँ खो गए तो आपकी ख़याल वाली देह तुरन्त समाप्त होते ही वह सम्पूर्ण ख़याल की संरचना समाप्त हो जाएगी। अगर ख़याल का वह रूप प्रसन्न होता है, तो आपके चेहरे पर प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है, यदि वह दुःखी होता है, तो आप दुःखी-से हो जाते हैं। जैसे ही हम आपसे कहें, कि 'भाई क्या हुआ,' तो आप तुरन्त कह देते हैं कि 'कुछ ऐसे ही ख़याल आ गया था।' आपका ख़याल ही आपको दुःखी कर देता है। **वस्तुतः होता तो कुछ भी नहीं। यही माया है।**

आपके ख़याल की सृष्टि का निर्माण ब्रह्मा ने किया, उसका पालन विष्णु ने किया और उसका संहार महेश ने किया। यह जो सारी सृष्टि देखने में आ रही है, वह मायिक है, मात्र ख़याल की सृष्टि है। **ईश्वर के ख़याल और हमारे ख्याल में कितना अन्तर है। उसने अपने ख़याल में करोड़ों ब्रह्माण्डों का निर्माण कर दिया, जिसमें 'मैं' जीवात्मा और मेरा ख़याल ही जीव बनकर खेल रहा है। उस ख़याल का आधार जो जीव है,**

उसकी अपनी कुछ हैसियत नहीं। मैं जब चाहे उसे समाप्त कर दूँ और उसके साथ ही सम्पूर्ण ख़याल की सृष्टि ढह जाएगी। क्योंकि उसका सम्पूर्ण संचालन तो मेरे मानस से हो रहा है, चाहे वह कहीं भी भागता-दौड़ता फिरे। उसकी मात्र प्रस्तुति हो रही है, देश-देशान्तरों में भागते-दौड़ते, वस्तुतः वह कहीं आया-गया ही नहीं। ख़याल ही ख़याल में देश, देशान्तर, लोक-लोकान्तर और न जाने क्या-क्या बना लिए। गोरे-काले लोग, नोट, डालर और विभिन्न प्रकार के भोग पदार्थ बना लिए। बहुत कुछ भोगा भी, दुःखी भी हुए, सुखी भी हुए, लेकिन हुआ कुछ भी नहीं। वस्तुतः यही माया है, जो कुछ न होते हुए भी कभी हँसा देती है तो कभी रुला देती हैः–

''निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

देवाधिदेव महादेव अपने ख़याल के स्वामी हैं। ख़याल उसका है, वह ख़याल का नहीं है। वह जब चाहे, जैसी चाहे, ख़याल की माया रच देता है, खेलता है और संहार कर देता है। खेलता भी वह नहीं है, क्योंकि वह तो निराकार है। उसका ख़याल ही खेलता है, विभिन्न मायिक रूपों में। उस ख़याल के जीव को यह ज्ञान हो जाए कि मैं तो ख़याल का हूँ तो वह उस ख़याल के समस्त प्रकरण का भरपूर आनन्द लेगा। किसी से लड़ाई-झगड़ा हो तो वह कृष्ण की तरह महाभारत छेड़ सकता है। वह दान करेगा तो सब कुछ लुटा देगा। क्योंकि क्या दिया, किसको दिया? जब हम देह के साथ तद्‌रूप हो जाते हैं कि 'मैं देह हूँ' तब हम फँस जाते हैं और सुखी-दुःखी होते हैं। **जब 'मैं' अलग होकर जीवात्मा के रूप में देह से पृथक् हो जाती है तो ईश्वर की तरह सच्चिदानंद हो जाती है। उसे ज्ञान हो जाता है कि ईश्वर ने यह देह उसे सम्पूर्ण सांसारिक महानाट्‌यशाला का आनन्द लेने के लिए दी है। इस प्रकार जीवात्मा ईश्वर के ख़याल की नायिका है।**

जीवात्मा के लिए उसे दी गई देह ही वह उपकरण है, जिसके माध्यम से वह सम्पूर्ण मायिक सृष्टि का प्रतिग्रहण करती है। जैसेकि मोबाइल टेलीफोन एक उपकरण है, जिसके माध्यम से आप आवाज़ सुनते हैं।

तद्नुसार व्यवहार करते हैं। अब यदि मोबाइल फोन स्वयं आपका स्वरूप बनकर निर्णय लेने लगे तो क्या होगा? यह जो जीवात्मा है, उसे इस सम्पूर्ण मायिक सृष्टि के प्रतिग्रहण के लिए देह दी गई थी। अतः हमें देह धारण करके अपने उस विशुद्ध स्वरूप को ढूँढना है। **'मैं'** शिवकुमार नहीं हूँ, **शिव कुमार देह के रूप में एक उपकरण है, जो मुझ जीवात्मा को दी गई है, ताकि मैं अपनी विशुद्ध 'मैं' पहचान लूँ, जो ईश्वर की तरह सच्चिदानंद है। इस मायिक सृष्टि का सम्पूर्ण प्रस्तुतिकरण मुझ जीवात्मा के ज़रिए ही होता है। इसका प्रतिग्रहण भी जो देह मुझे दी गई है, उसके माध्यम से होता है। इसके सुखों-दुःखों का प्रभाव मुझ पर तब होता है, जब 'मैं' उपकरण रूप में दी गई देह के साथ तद्रूप हो जाता हूँ, नहीं तो मैं स्वयं इसका भरपूर आनन्द लेता हूँ।** ईश्वर की इस मायिक प्रस्तुति में जो विविधता और बहुरूपता है, वह मेरे आनन्द के लिए है। एक फिल्म में सभी नायक तो नहीं होते, उसमें खलनायक भी चाहिए। चोर, डाकू, लुटेरे आदि भी हों तो फिल्म देखने का स्वाद आता है। फिल्म में बाज़ार दिखाया हो तो वहाँ पृथक्-पृथक् दुकानें चाहिएँ। एक ही कारोबार दिखा दिया तो सब कहेंगे कि निर्देशक की बुद्धि खराब हो गई है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण सांसारिक नाट्यशाला में चलने वाले नाटक की दृष्टा जीवात्मा है। **जब देह के साथ तद्रूप हो जाती है तो वह दृष्टा नहीं रहती। वह उसमें से एक पात्र बन जाती है और दुःखी-सुखी होती रहती है।** जैसे मोबाइल फोन रूपी उपकरण के माध्यम से आपने कोई समाचार सुना तो तद्नुसार मोबाइल फोन तो दुःखी-सुखी नहीं होता, लेकिन **मैंने** इस देह रूपी उपकरण को अपना स्वरूप समझ लिया तो **'मैं'** भी सुखी-दुःखी होने लगा। साथ ही जैसे मोबाइल फोन में एक चिप होती है, जिस पर आपका नम्बर होता है, उसी के अनुसार आपका बिल भी आता है। इसी प्रकार देह को **'मैं'** समझने के कारण **'मैं'** पितृ-ऋण, देव-ऋण व ऋषि-ऋण में भी फँस गया। जो लाखों, अरबों कॉल प्रेषित करता है, उस सैटेलाइट को बिल नहीं आता लेकिन मोबाइल को बिल आता है।

'मैं' भी यदि उस जीवात्मा रूपी सैटेलाइट से जुड़ जाऊँ, जहाँ से सारा ब्रह्माण्ड मेरे लिए प्रकट हो रहा है, तो न तो मुझे कोई ऋण आदि देना होगा और न उस मायिक जगत के दुःखों-सुखों से मेरा कोई लेना-देना होगा। मैं उस सम्पूर्ण प्रस्तुतिकरण का आनन्द लूँगा। जन्मों-जन्मान्तरों में जितना जप, तप, साधना, ध्यान तथा अन्य पुरुषार्थ कर्म हैं, वे इसलिए हैं कि मैं इन झमेलों से मुक्त होकर दृष्टाभाव में स्थित होकर इस सम्पूर्ण मायिक सृष्टि का आनन्द लूँ। लेकिन **'मैं'** जीवात्मा-रूपी सैटेलाइट होते हुए भी इस देह रूपी मोबाइल से तद्‌रूप हो जाता हूँ। मेरे ऊपर केस अलग चलता है, क्योंकि 'चिप' का बिल भी मैं नहीं भरता। 'मै देह हूँ' पितृ-ऋण, देव-ऋण व ऋषि-ऋण देने होंगे, लेकिन इन्हें न देने के कारण मैं जन्मों-जन्मान्तरों में सज़ाएँ भुगतता हुआ धक्के खाता रहता हूँ।

आप यदि सांसारिक गतिविधियों में व्यस्त हैं और स्वयं को कर्मठ मान रहे हैं, आपको नहीं मालूम कि आप किसी न किसी योनि में घूम रहे हैं। यहाँ जो भी तथाकथित प्राप्त हुआ है, वह यहीं रह जाएगा और अगले जन्म में पुनः भूखे-नंगे पैदा होंगे। यही माया है। जहाँ आप देह से विलग होकर स्वयं जीवात्मा-स्वरूप होकर देखेंगे तो आप सबका आनन्द लेंगे। जब आपकी यह माया देखने की इच्छा न हो तो आप इन मायिक विधाओं अथवा योनियों की ओर से हट कर शिव की ओर, उसके सम्मुख हो जाएँ:–

'निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।'

पुनः जब चाहें तो मायिक जगत में दृष्टाभाव से आनन्द ले सकते हैं। कोई फिल्म देखने का मन हो तो आप देखते हैं, नहीं तो टीवी बन्द कर देते हैं। **इसी प्रकार जब आपको अपने जीवात्मा-स्वरूप पर अधिकार आ जाता है, तो आप ईश्वर के इस सम्पूर्ण मायिक प्रकटीकरण को देखने, सुनने, चखने, सूँघने व स्पर्श करने के लिए बाध्य नहीं होते। विशुद्ध जीवात्मा कभी इन मायिक योनियों में भटकने के लिए बाध्य नहीं है। जीव भटकता है, क्योंकि वह देह के साथ तद्‌रूप है।** देह के साथ तद्‌रूप होते ही वह ईश्वर-विमुख हो जाता है। ईश्वर प्रत्येक मायिक विधा का आनन्द

लेता है। जीवात्मा मूल-स्वरूप में उसी सच्चिदानंद का अंश है। **जो ईश्वर का ख़याल है, वह जीवात्मा है और वह एक ही है।** चाहे वह किसी भी नाम-रूप में कुछ भी बन कर खेले। उसका नाम भी है, उसका रूप भी है, उसके जन्म की भी तिथि है, उसके माता-पिता भी हैं, उसका मरण-दिवस भी है। **सारा खेल है, लेकिन है कुछ भी नहीं। ख़याल का नाम-रूप कब पैदा हुआ, अरे ! बाँझ के तो कभी बच्चा होता ही नहीं। ख़याल के व्यक्ति का माँ-बाप कौन है? यह सम्पूर्ण जगत बाँझ की औलाद है, मात्र प्रतीति है, है कुछ नहीं। शास्त्र ने जगत को 'वंध्या सुत' कहा है।**

अपने ख़याल में खेलने के लिए जब वह ईश्वर कोई नाम-रूप लेकर स्वयं आता है, तब वह अपनी सम्पूर्ण भगवत्ता के साथ छः भगों से युक्त होकर उतरता है। इसे कहा है—**'ईश्वर-अवतरण'** अथवा **'ईश-सृष्टि'।** जब वह अपने ख़याल में क्रीड़ा हेतु अपने बेटे को उतारता है तो उसे कहा है—**'जीवावतरण'** या **'जीव-सृष्टि'**। ख़याल में जीव वह सृष्टि बनाता है, जिसका केन्द्र वह स्वयं होता है। एक तो मैं स्वयं अपने लिए ख़याल करूँ कि मैं वहाँ आया-गया और ऐसा-ऐसा मेरे साथ हुआ और दूसरा मैं अपने पुत्र के लिए ख़याल करूँ। **ईश्वर जब स्वयं ख़याल में उतरता है तो इसे अवतार कहा है, वह ईश-सृष्टि है। जब वह अपने पुत्र के लिए ख़याल की सृष्टि रचे तो इसे जीव-सृष्टि कहा है।**

ईश-सृष्टि में वह भ्रम में कभी नहीं आता। पाप भी करता है, पुण्य भी करता है, लेकिन कुछ नहीं करता। उसे कोई पाप-पुण्य इसलिए नहीं लगता, क्योंकि वह स्वयं उस सम्पूर्ण लीला का स्वामी होता है। पटकथा-लेखक, निर्देशक, विभिन्न पात्र वह स्वयं ही बनता है, खेलता है और पर्दा गिरा देता है। जैसे भगवान श्रीकृष्ण स्वयं आए, खेले और सारा यदुवंश व द्वारका समाप्त कर दी। **परन्तु कभी-कभी वह ईश्वर जीवात्मा बनकर खेलता है। जीव उसका एक ख़याल है, उसका अबोध बालक है।** उसके लिए ईश्वर सब स्वयं बनाता है, परन्तु जीव की सृष्टि में उसको अहं हो जाता है, कि मैं कर्ता हूँ। देख ईश्वर रहा है, सब कुछ क्रिया-कलाप वह कर

रहा है, सब गतिविधि उसके निराकार मानस में हो रही है, बाहर केवल प्रस्तुति होती है। जब ईश्वर अवतार-रूप में स्वयं उतरता है, तो उसमें भी माँ-बाप बनाता है, जन्म-तिथि, काल आदि सब कुछ बनाता है। अजन्मे का जन्म भी होता है, अजर-अमर का मरण भी होता है, काल भी होता है, जैसेकि भगवान श्रीकृष्ण इतने वर्ष जिए। आप सोचिए, यदि आप अपने ख़याल में अमरीका, यूरोप घूम कर आए तो कब यह सब निर्माण हुआ। आपने एकदम सैंकड़ों लोग, देश, पर्वत, आकाश, पेड़, वनस्पतियाँ और विभिन्न प्राणी-जगत बना दिया। इसको कहा है—**बाह्य प्रकटीकरण**। **जो ईश्वरीय सद्संकल्प होता है, वह रूप धारण करके प्रकट हो जाता है। उसके लिए कृत्यों की आवश्यकता नहीं होती।** लेकिन वह प्रकटीकरण मायिक है, क्योंकि टीवी स्क्रीन पर जो दृश्य चल रहे हैं, वे मायिक होते हैं। यदि उसमें घोड़े दौड़ते हों या सोने के बिस्कुट दिखाएँ जाएँ तो क्या आप उन्हें ले सकते हैं? नहीं न ! आप व्यर्थ ही स्क्रीन पर हाथ मारते रह जाएँगे। इसी प्रकार इस मायिक जगत में भी हम सोचते हैं, कि बड़ा माल कमा लिया और उसके बाद राम नाम सत्य हो जाता है। हम बस यही कर रहे हैं। **जो है नहीं, रहना नहीं, रह सकता नहीं, उसे ही कमा रहे हैं।**

यदि हम अबोधता में सम्पूर्ण सांसारिक परिदृश्य को देखें तो बहुत आनन्द आएगा। अतः जो यह अबोधता है, वास्तव में वही बुद्धिमता है, क्योंकि यह ज्ञानमयी अबोधता है। जो परमहंस होते हैं, वे ज्ञानमयी अबोधता में विचरण करते हैं। उनसे कहा जाए कि महाराज आप सोने के मणि-जड़ित् सिंहासन पर विराजिए, कि 'ठीक है।' अब आप टाट के टुकड़े पर बैठिए, कि 'वह भी अति उत्तम है।' वे चाहे सोने की थाली में खाएँ या हाथ पर सूखी रोटी रखकर खाएँ, उनका मानसिक आनन्द खण्डित नहीं होता। मैं एक दृष्टान्त दूँगा—एक राजा अपने राज्य के वन-प्रदेश में आसीन एक महात्मा के पास गया, कि ''महाराज ! आप कुछ दिन मेरे महल में रहिए, मेरे अतिथि बनकर।'' राजा ने सोचा था कि महात्मा इन्कार कर देंगे कि हमें महलों के भोगों से क्या लेना-देना। लेकिन उसकी हैरानी में महात्मा ने कहा,

कि "चलो," क्योंकि महात्मा तो वर्तमान में विचरण करते हैं। राजा का रथ बाहर खड़ा था, उसी में उस महात्मा को लेकर राजा अपने महल में आ गया और महात्मा जी के लिए विशेष कक्ष में उचित व्यवस्था करा दी। दिव्यतम् भोजन व सत्कार का आयोजन कराया। महात्मा जी ने भोजन-प्रसाद ग्रहण किया और फिर राजा के अनुरोध पर नृत्य भी देखा, संगीत भी सुना और रात्रि होने पर सो गए। अगले दिन सुबह फिर उनके सत्कार के विविध आयोजन हुए और यह कार्यक्रम 10 – 15 दिनों तक चलता रहा। राजा अब चिन्तित हो गया कि यह तो जाने का नाम ही नहीं ले रहे हैं। सन्त भी राजा का भाव जान गए, लेकिन एक दो महीने और वहीं टिके रहे। राजा को लगा कि सन्त महात्मा की वृत्ति बिगड़ गई है और इन्हें भोग-विलास की आदत पड़ गई है। एक दिन महात्मा जी ने राजा से कहा कि राजा ! आज तुम और मैं भ्रमण के लिए जाएँगे। तो वे दोनों रथ पर घूमते-घूमते राज्य की सीमा तक पहुँच गए। राजा ने कहा "प्रभु ! मेरे राज्य की सीमा यहीं तक है। यहाँ से मेरे शत्रु राजा के नगर की सीमा आरम्भ हो गई है। मैं आगे नहीं जा सकता।" महात्मा ने कहा, "चलो रथ छोड़ दो, मेरे साथ पैदल चलो।" राजा के विरोध करने के बावजूद महात्मा उसे दो-तीन किलोमीटर और दूर तक खींच कर ले गए। राजा ने घबरा कर कहा कि, "प्रभु ! यह मेरी सीमा में नहीं है।" तो महात्मा ने उसे झिड़क कर कहा, कि "तू जा फिर, तेरी सीमा है, लेकिन मेरी कोई सीमा नहीं है। तू अपनी सीमा में जा, तू सीमित है और मैं असीम हूँ।" राजा हैरान हो गया कि महात्मा जी तो असीम हैं। मैं इन्हें क्या समझ रहा था। मेरी भूल थी। मैं इनके समक्ष कुछ भी नहीं हूँ। यह तो शाहों के शाह हैं। संतों के ऐश्वर्य का कोई भी तथाकथित ऐश्वर्यवान भी अनुमान नहीं लगा सकता। **परमहंस स्थिति यह है, कि भोग विलास और फ़क़ीरी में कोई अन्तर अनुभव न हो।** उसके मन में यह भाव न हो कि मुझे यह भोग नहीं भोगने या उनका अभाव होने पर उनके अखण्ड-आनन्द की अविरल धारा टूट जाएगी। सन्यासी भोगों को भोगता है और भोगी को भोग, भोग जाते हैं।

इस प्रकार निराकार शिव अपने तीन साकार रूपों ब्रह्मा, विष्णु और महेश एवं तीन शक्ति-रूपों महासरस्वती, महालक्ष्मी और माँ भवानी दुर्गा द्वारा निर्माण, पालन और संहार करता है। उसमें या तो वह अपने जीव के ख़याल में आकर खेलता है या स्वयं आ कर खेलता है। यदि वह स्वयं आ कर खेलता है तो उसे कहा है–**'भगवान',** या **'ईश्वरावतरण'।** वह भगवत्ता, वह ईश्वरत्व जब स्वयं साकार देह धारण करता है तो वह छः भगों से युक्त भगवान होता है। जब वह अपने बच्चे को जीव बनाकर खिलाता है तो उसमें भी ये छः विभूतियाँ अथवा छः भग होते हैं। **अन्तर क्या है, कि जीव आश्रित है और वह स्वयं आश्रय है, आश्रयदाता है।** जीव को उस माया में स्वयं कर्ता होने का भ्रम हो जाता है। वह अहं उसके मूल स्वरूप को (जोकि ईश्वर की तरह सौन्दर्यवान, ज्ञानवान, शक्तिवान, ख्यातिवान, ऐश्वर्यवान व त्यागवान है) आच्छादित कर देता है और प्रारब्ध का निर्माण होने लगता है। **ईश्वर ने जीव को भी अधिकार दिए हैं। यदि निर्वाण चाहते हैं, तो उसके साथ जुड़े रहिए।**

उसने जीव को स्वयं माया में उतारा है, सम्पूर्ण मायिक सृष्टि धरती, आकाश, वायु, अग्नि व जल से कितने शहर बनाए, बसाए। उसके लिए महल-राजमहल बनाए। ईश्वर ने स्वयं ही अपने पुत्र रूपी जीव के लिए सारा प्रबन्ध कर रखा है, लेकिन वह इस भ्रम में घिर जाता है, कि **'मैं'** यह सब कर रहा हूँ। ईश्वर अपने बच्चे को प्रशंसा भी दिलवाता है, जैसे माँ अपने बच्चे को कर्नल की वर्दी पहना दे और शाबाशी दे, तो वह भी इतरा कर कह उठता है, कि "माँ ! मैं कर्नल बन गया हूँ।" और माँ आनन्दित होती है। इसी प्रकार ईश्वर जीव को कुछ भी बनाकर आनन्द लेता है, लेकिन जीव अहं में आ जाता है, कि मेरे करने से यह सब हुआ है। बस, वहाँ से वह फँस जाता है। सत्संग के बिना आपके जीवन का कुछ अर्थ ही नहीं है। अरे ! वह आपको जो भी बना कर खिला रहा है, आप खेलो। अतः सत्संग बहुत आवश्यक है। सन्त बताता है कि तुम वही हो, उसी के अंश हो, उससे जुड़े रहो। वह जो बनाकर तुम्हें खिला रहा है, खेलो ! उसमें फँसो मत। तुम भी

उसी की तरह निराकार हो। **हम जब ईश्वर से कहते हैं कि प्रभु ! मैं ऐसा हूँ, कामी हूँ, पापी हूँ तो हम देह को ही तो लक्ष्य करके कहते हैं। हमारी प्रार्थनाएँ भी कितनी मायिक और मिथ्या हैं ! हम 'मैं' देह के लिए कहते हैं, जबकि देह उसने आपके लिए बनाई है। जब इच्छा हो बना दे, जब इच्छा हो परिवर्तित कर दे, आपके लिए।** इसलिए प्रभु से प्रार्थना जीवात्मा बनकर करनी है, कि ''प्रभु यह देह भी आपकी है, **'मैं'** भी आपका हूँ:–

''मृत्युजंय महादेव त्राहि माम् शरणागत,
जन्म मृत्यु, जरा, रोगे पीड़ितम् कर्मबन्धनैः।''

''हे जन्म-मृत्यु से रहित प्रभु महादेव ! आप मेरी रक्षा करो। मैं आपकी शरण में हूँ। मैं जन्म, मृत्यु, बुढ़ापे और रोगों से **कर्म-बन्धन** के कारण पीड़ित हूँ। **मैं कर्मों के बन्धन में कर्ता बनकर पड़ गया** जबकि सब कुछ कराने वाले आप थे।'' अपना केस लड़ने के लिए जज व गवाह दोनों चाहिए। आप उस महाप्रभु को ही अपना जज व गवाह बना दो, कि आज तक तो तूने मुझे अपने सम्मुख बुलाया ही नहीं। आज बुलाया है, इसलिए तेरी ही कृपा से मैं यह अर्जी दे रहा हूँ। तेरी लिखी गीता पर हाथ रख कर **'मैं'** कह रहा हूँ कि मैं जो कहूँगा सच कहूँगा और सच के सिवाय कुछ नहीं कहूँगा–कि प्रभु मैंने कुछ भी नहीं किया। गवाह भी मेरे तुम ही हो। तुम अपनी ही लिखी गीता पर दोनों हाथ रखकर कहो कि मैंने कुछ किया है क्या? तू ही मेरा चश्मदीद गवाह है। तू कह दे कि मैंने किया है।'' तो गीता के रचयिता के हाथ काँप जाएँगे। दैवीय अधिनियमानुसार वह यह कह ही नहीं सकता। वह स्वीकार कर लेगा कि ''तूने कुछ नहीं किया, सब कुछ मैंने ही करवाया था।'' ''पीड़ितम् कर्मबन्धनैः।'' ''कर्म करवाते तुम हो और मुझे भ्रम हो गया कि मैं करता हूँ और मेरी इस ग़लतफ़हमी के कारण भी तुम ही हो। उस भ्रम में मैंने स्वयं को पापी, पुण्यी मान लिया और उसकी वजह से **'मैं'** फँसा। जन्मों-जन्मान्तरों से मैं भटक रहा हूँ, यह न्याय कहाँ का हुआ? तुम जानते हो मैंने कुछ नहीं किया। तो मेरे भ्रम की इतनी बड़ी सज़ा मुझे क्यों मिली कि मुझे मेरे स्वरूप, मेरे शाश्वत घर से निकाल दिया गया और मैं भटक रहा

हूँ।'' इस प्रकार जीवात्मा ईश्वर-सन्मुख हो जाती है :–

''सन्मुख होहिं जीव मोहि जबहिं,
कोटि जन्म अघ नासहिं तबहिं।''

उस समय वहीं उस जज को फैसला सुनाना पड़ता है कि,''आओ मेरे बच्चे तुमने कुछ नहीं किया'' और वह अपने पुत्र रूपी जीव को गले से लगा लेता है। प्रभु के दरबार में मिट्टी बनकर जाना है, कि ''प्रभु ! आज का दिन तुमने मुझे दिया है और यह देह दी है। मुझे न यह देह इस्तेमाल करनी आती है और न समय। मैं नहीं जानता तुमने मुझे यह सब क्यों दिया है। मैं यह सब जानना भी नहीं चाहता। तो प्रभु ! यह देह, यह दुनिया सब तुम्हारे हैं, एक-एक पल, एक-एक क्षण तुम्हारा है और मैं भी तुम्हारा हूँ। जब-जब मैंने खुद इसका इस्तेमाल किया है, मैं फँसा हूँ। इसलिए हे प्रभु ! मेरी ओर से, आप इसे चलाइए। मैं तुम्हारी सन्तान हूँ, जैसी भी हूँ, नालायक हूँ, लायक हूँ, मैं नहीं जानता। कभी भी अपने कार्यक्रम मत बनाइए, फँस जाएँगे आप। बहुत बड़ी भूल होगी आपसे। यह दैवीय नियमों के विरुद्ध है। सभी प्रोग्राम उसके हैं, सब सूत्र उसी के हाथ में हैं, वह सूत्रधार है। वह शक्तिमान है। वह बीच-बीच में अपने चमत्कार दिखाता रहता है, कि देख ! यदि जीवन के प्रत्येक पल का आनन्द लेना है तो अपना केस रोज़ स्वयं लड़ना पड़ेगा, कि ''प्रभु ! मुझे तुमने यह देह दी है, मैंने तो माँगी नहीं थी, अब आप ही इसे चलाओ।'' यह नहीं कहना, कि ''प्रभु ! मेरे रोग, दोष व विकार दूर करो। प्रभु ! मैं जैसा हूँ, ठीक हूँ, जैसा तुमने मुझे बनाया वैसा ही हूँ मैं। एक ही अन्तर है, कि तुम समर्थवान हो, मैं असमर्थ हूँ और मुझे सामर्थ्य एवं बल, बुद्धि व विद्या चाहिए भी नहीं।'' कभी अपने लिए बल, बुद्धि, विद्या, शक्ति, सामर्थ्य व तन, मन या धन नहीं माँगना, नहीं तो फँस जाओगे। ''प्रभु ! यह सब कुछ तेरा है, तू खिलाना चाहता है, खिला, आनन्द में। मुझे तेरा खेल देखने दे, खेलने दे।'' बहुत सटीक प्रार्थनाएँ करनी हैं, जिसमें कोई लाग-लपेट न हो। ''गवाह भी तुम हो, मुज़रिम भी तुम हो, वकील भी तुम हो, जज भी तुम हो, प्रभु अर्जी भी तुम ही दिलवा रहे हो। तुम्हें कुछ खिलाना है तो खिलाओ, नहीं तो मत

खिलाओ।'' **सारे महाब्रह्माण्ड को हृदय में समेट लीजिए, क्योंकि वह आपके लिए है, आपके अपने पिता का साम्राज्य है।**

अन्त में यह भी कि आप किसी खेल के लिए बाध्य नहीं हैं। **वो आपको खिलाने के लिए बाध्य है, लेकिन आप खेलने के लिए बाध्य नहीं हैं।** बच्चा अपनी माँ से भाँति-भाँति के हठ करता है, कि मुझे यह बना दो, मैं यह खाऊँगा और माँ जब बनाकर लाती है तो वह सब छोड़कर खेलने भाग जाता है, कि मैं नहीं खाता। **आश्रित की शरारतें अच्छी लगती हैं, यदि वह निर्दोष हो तो। यह परम सत्य है कि वह खिलाने के लिए बाध्य है, लेकिन आप खेलने के लिए बाध्य नहीं है। अपने अधिकारों का प्रयोग करिए। आप उस सच्चिदानंद की एकमात्र सन्तान हैं, आप जीवात्मा हैं, आपके भी कुछ अधिकार हैं।**

आप स्वयं को वह समझिए जो वास्तव में आप हैं। इस पृथ्वी पर सबसे बड़ी मूर्खता यह है, कि आप स्वयं को एक देह के नाम-रूप में सीमित मान लें। तुम परमात्मा हो, मैं जीवात्मा हूँ। यह देह और देह पर आधारित जगत मेरा नहीं है, मेरे लिए है। क्योंकि मैं तुम्हारा हूँ और तुमने मेरे लिए इसे बनाया है। **देह बनकर तो आप भी नश्वर हो जाएँगे और एक नश्वर शाश्वत के सामने खड़ा ही नहीं हो सकता। आँख भी नहीं मिला सकता, प्रार्थना करना तो दूर की बात है।** नश्वर शाश्वत् से, अस्थिर, स्थिर से प्रार्थना कैसे कर सकता है। मिलना-जुलना बराबर वालों के साथ होता है। ''मैं जीवात्मा हूँ जो परमात्मा का अंश है। यह देह आपने मेरे लिए दी है, यह धरती, यह आकाश, सूर्य व चन्द्रमा आदि सब आपने मेरे लिए बनाए हैं और मेरे खेलने के लिए खेल में बनाए हैं। मेरी भटकन में यदि आप आनन्द लेना चाहें तो आप घोषित करिए कि आप मुझे भटकता हुआ देखना चाहते हैं। आप परमात्मा हो, तो मैं विशुद्ध जीवात्मा हूँ। यह तमाशा आपके लिए भी है और मेरे लिए भी है। आप सामर्थ्य, शक्ति और ज्ञान के सम्राट हो, मैं असमर्थता, अशक्तता और अज्ञान का सम्राट हूँ। मुझे सामर्थ्य और शक्ति नहीं चाहिए। मुझे बस तुमसे इश्क हो गया है, इसलिए तुमसे मिलने की

आस लगा बैठा हूँ। तुम्हारी कृपा से मैं तुम्हारे दर पर ढह गया हूँ, अब आगे तुम्हारी मर्ज़ी।''

''पड़ा रहने दो अपने दर पर,
मुझको क्यों उठाते हो,
मेरी किस्मत सँवरती है,
तुम्हारा क्या बिगड़ता है।''

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(28 व 30 जनवरी 2005)

आत्म-चिन्तन

अपने विषय में स्वयं विचार करना अथवा आत्म-विश्लेषण करना ही **'आत्म-चिन्तन'** है। यह विचार करना कि मानव-देह धारण करके मैं मानव-जीवन जी रहा हूँ अथवा पशुवत् जीवन-यापन कर रहा हूँ। **पशु तो मानव-जीवन नहीं जी सकता, लेकिन मानव पशुवत्-जीवन जी रहा है।** हम शास्त्रादि ग्रन्थ पढ़ते हैं, सत्संग में जाते हैं, विचार-चिंतन-मनन आदि करते हैं। हमारे पास मानव-देह के साथ शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक सभी प्रकार की शक्तियाँ हैं। अतः निश्चित रूप से मानव-देह तो मेरे पास है, परन्तु क्या मैं मानव-जीवन भी जी रहा हूँ अथवा नहीं? उसके लिए यह जानना परमावश्यक है, कि मैं पशुओं से किस प्रकार भिन्न हूँ। पशु पैदा होता है, कहीं न कहीं रहता है, खाता है, पीता है, बच्चे पैदा करता है, अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करता है और मर जाता है। यदि मैं भी ऐसा ही कर रहा हूँ, तो मुझ में और उन पशुओं में अन्तर ही क्या है?

मानव-देह मिलना स्वयं में एक घटना है, चमत्कार है, प्रभु की कृपा का प्रसाद है। यह मानव-देह प्राप्त करके मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, उसमें पशुओं से मैं किस प्रकार पृथक् हूँ। **मेरा आध्यात्मिक जीवन जीने, निर्देशित करने, सीखने, जानने अथवा अनुभव करने का अर्थ यह है, कि मानव-देह प्राप्त करके भी मैं यदि पशुवत् जीवन-यापन कर रहा हूँ तो मैंने मानव-देह का तिरस्कार ही किया है। देह मुझे बहुत उत्कृष्ट कार्य के लिए मिली थी, उसे मैंने निकृष्टतम् कार्यों के लिए व्यर्थ कर दिया।** जिसके लिए पशु भी अपनी देह का प्रयोग नहीं करते, मैंने उन कर्मों के लिए

देह का दुरुपयोग किया। सत्य को जानना, ईश्वर की अनुभूति करना बहुत बाद की बातें हैं। पहले मैं स्वयं को पहचानूँ कि मैं कौन हूँ और क्या कर रहा हूँ? मैं कहता हूँ कि 'मैं देह हूँ'। तो क्या मैं देह हूँ? क्योंकि मैं इस देह को लेकर ही विभिन्न योजनाएँ व परियोजनाएँ बनाता हूँ। विभिन्न प्रकार के नये-नये परिचय प्राप्त करता हूँ। उस देह के लिए अनेकों कार्य करता हूँ, जिसके एक क्षण का भी मुझे कुछ ज्ञान नहीं है, कि वह कब मुझे मिली, कब जाएगी, कैसे जाएगी आदि? जीवन में जितनी भी घटनाएँ घटीं और आगामी क्या घटनाएँ घटेंगी, इसका भी मुझे कुछ ज्ञान नहीं है। मैं इस मानव-देह को स्वयं किसके लिए उपयोग कर रहा हूँ?

मैं यदि स्वयं को देह ही मानकर चलूँ, तो मैं अमुक स्थान, ग्रह, नक्षत्र और विशिष्ट घड़ी में, विशेष माता-पिता से क्यों पैदा हुआ? मैंने विशिष्ट शिक्षा क्यों ली, विशिष्ट स्त्री या पुरुष से मेरा विवाह क्यों हुआ व अमुक प्रकार की सन्तानें क्यों हुईं? मेरा अमुक पद, आर्थिक स्थिति व प्रतिभाएँ क्यों हैं? मुझे कब, कहाँ और कैसे मरना है? मैं कुछ भी नहीं जानता। स्वयं यह देह मुझे कैसे मिली, मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। मैं गोरा हूँ, काला हूँ, लम्बा हूँ तो क्यों हूँ अथवा छोटा हूँ तो क्यों हूँ? मन्द-बुद्धि अथवा तीव्र-बुद्धि का क्यों हूँ, अपने भाई-बहनों से बड़ा या छोटा क्यों हूँ? मैं कुछ भी नहीं जानता। मुझे देह के रूप में एक वस्तु बनी-बनाई मिली है, जिसमें मेरा कुछ भी हस्तक्षेप नहीं था और मेरी जानकारी के बिना ही यह चली भी जाएगी। इसका अर्थ यह है, कि देह के सम्पूर्ण कार्यक्रम का संचालन किसी और के हाथ में था। सूत्रधार कोई और था। **तो मैं कौन हूँ और यह देह मुझे किसलिए मिली है?**

मैं आश्वस्त हो गया कि 'मैं देह नहीं हूँ', मैं पृथक् हूँ और देह मुझे मिली है। अब मुझे यह जानना आवश्यक है कि यह **'देह मुझे काहे के लिए मिली है?'** होश सम्भालते ही मैं 'देह के लिए' कार्यों में इतना तन्मय और व्यस्त हो जाता हूँ कि जानकर भी अनदेखा कर देता हूँ, कि यदि मैं यह सब न भी करूँ तो उससे कुछ अन्तर पड़ने वाला नहीं है। मैं वो कर रहा हूँ जो मेरे

बिना भी हो सकता है। तो **मुझे 'देह काहे के लिए' मिली है? मैं देह नहीं हूँ, मुझे देह मिली है और यह देह एक दिन अवश्य जाएगी। मैं देह के लिए सम्पूर्ण जीवन संघर्ष करता रहा हूँ, बिना यह जाने कि यह देह आखिर मुझे मिली किसलिए है? देह एवं अपने परिवार के लिए मैं जो भी कर रहा हूँ, वह सब क्या मेरे किए से हो रहा है?** उन कृत्यों में मेरी अपनी भूमिका क्या है? आपकी चार सन्तानें हैं, आप किसी के लिए चाह क्या रहे हैं और हो क्या रहा है? आप अपने लिए क्या चाह रहे थे और क्या हुआ? क्या आपको अपनी देह, अपनी पत्नी, घर, बार, आस-पड़ोस आदि वैसा ही मिला, जैसाकि आप चाहते थे? माता, पिता, पद, प्रतिष्ठा, जीवन-स्तर, विवाह, आर्थिक स्तर आदि सब वैसा ही मिला जैसाकि आप चाहते थे। **यदि सब कुछ मेरे किए से हो रहा है, तो सब जैसा मैं चाहता हूँ, वैसा क्यों नहीं हो रहा है? तो मेरी इच्छाओं और चाहतों का मूल्य ही क्या है? मेरे करने की हैसियत ही क्या है?** यदि मुझे आध्यात्मिक जीवन जीना है तो मैं इन तथ्यों की ओर से आँखें बन्द नहीं कर सकता। इस देह का आकार, प्रकार, गुण, धर्म व प्रतिभाएँ कुछ भी मेरे हाथ में नहीं हैं। लेकिन यह मानव-देह मुझे मिली है और एक दिन चली भी जाएगी। तो मुझे क्यों मिली मानव-देह?

मैं जीवन में लक्ष्य क्या रखूँ, कि मेरी इच्छाएँ पूरी हो जाएँ। जो देह मेरी इच्छा से न बनी है, न आई है, न चल रही है और न जाएगी, उसमें मैं अपनी क्या इच्छा रखूँ? उसके कार्यक्रम बनाने वाला मैं कौन होता हूँ। **जो भी क्षण मुझे मिला है, यह मेरे लिए ग़नीमत है। जिस क्षण में मेरी देह स्वस्थ है और मैं प्रसन्न हूँ, वह क्षण मेरे लिए ईश्वर का प्रसाद है।** मैं उस क्षण में क्या करूँ? आज का दिन मुझे मिला है और मैं अपने बिस्तर से स्वस्थ उठा हूँ। साथ ही मैं जानता हूँ कि मेरी चाहतों से जीवन नहीं चलता। मेरी इच्छाओं से कुछ भी नहीं होता है। तो यह संघर्ष क्यों है? यही कि मेरी चाहतें कुछ और हैं और हो कुछ और रहा है। फिर भी मैं अपनी चाहतों से बाज़ नहीं आता। मेरा हस्तक्षेप मेरे समस्त तनाव का कारण बना हुआ है।

यदि अमुक प्रकार से ईश्वर मेरा जीवन चला रहा है तो क्यों चला रहा है? उससे मुझे क्या मिला।

आप यदि जीवन में हस्तक्षेप नहीं भी कर रहे और जो स्वतः ईश्वरीय प्रेरणा होती है, आपने वही कर दिया और जीवन बीत गया, तो उससे भी क्या मिला? किसी दिन स्वतः कुछ मिल गया और किसी दिन स्वतः कुछ खो गया। तो भी देह का आपको क्या लाभ हुआ? वैसे यह भी बहुत ऊँची स्थिति है कि आप स्वयंभू कर्म नहीं करते, देह में अपना हस्तक्षेप नहीं करते। दृष्टा-भाव से ईश्वरीय कृत्यों को देखते हैं और प्रेरणा होने पर आनन्द में कुछ कर देते हैं, तो भी आपको देह मिलने से क्या मिला? देह का आपने सदुपयोग क्या किया?

मेरी चाहत के अनुसार यहाँ कुछ भी नहीं होता, मैं करता कुछ और हूँ और होता कुछ और है। **मैं नहीं भी करता हूँ तो भी होता है,** क्योंकि अपनी देह, माता, पिता, पति, पत्नी, सन्तान आदि बनाने के लिए मैंने कुछ भी नहीं किया, लेकिन वे मुझे मिले। कुछ भी मेरी चाहतों के अनुसार नहीं हुआ और आगे भी वही होगा जो ईश्वर चाहेगा। यह भी मैं जानता हूँ। यदि मैं उस ईश्वर की चाहतों पर देह को छोड़ दूँ तो ऐसे ही एक दिन यह देह समाप्त हो जाएगी। जीवन समाप्त हो जाएगा। कुछ मुझे मिलेगा, कुछ मुझसे खो जाएगा, जो मुझे मिलेगा वह सब मैं यहीं छोड़कर चला जाऊँगा, तो अन्ततः मुझे क्या मिला?

मैं जीवन से क्या चाहता हूँ? मैं जीवन में क्या-क्या करना चाहता हूँ? यदि मेरे करने से कुछ हो, तो मैं करूँ। कोई भी अपना नुकसान नहीं करना चाहता, लेकिन फिर भी नुकसान तो होते ही हैं। जीवन में लाभ क्या वही होते हैं, जो हम चाहते हैं। क्या हमें सब कुछ वैसा ही मिलता है, जैसा हम चाहते हैं? क्यों हम देव-दरबारों में व साधु-सन्तों के पास प्रार्थनाएँ करते हैं? ''प्रभु! मेरी इच्छा पूरी हो जाए।'' इच्छा पूरी हो जाती है तो मैं और विक्षिप्त हो जाता हूँ, कि यह न ही पूरी होती तो ठीक था। हमें तो अपनी चाहतों के विषय में भी ज्ञान नहीं है कि हम जो चाह रहे हैं, वह हमारे हित में भी है या

नहीं। **हमें अपनी इच्छाओं के विषय में सही ज्ञान होना चाहिए कि मैं चाहता क्या हूँ और अन्ततः मुझे उससे क्या मिल जाएगा?**

आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश से पहले हमें अपना ज्ञान होना परमावश्यक है, क्योंकि यही उसकी नींव है। यदि यह सुदृढ़ नहीं होगी तो हम आध्यात्मिक जीवन में प्रविष्टि के अधिकारी नहीं हो सकते। **अर्थ यह है कि हमें यह जानना आवश्यक है कि यह कहानी क्या है? यह पशु नहीं जान सकता।** यदि मैं तनावित हो रहा हूँ, तो क्यों हो रहा हूँ। क्या मुझे देह तनाव-ग्रस्त रहने के लिए मिली है? क्या कष्ट भोगने, दुःखी होने के लिए मिली है? क्योंकि मैं दुःखी, त्रसित, विक्षिप्त, तनावित, आसक्त, असंतुष्ट, रुग्ण, चिन्तित, दोषी, रोगी, शोक-ग्रस्त भी हूँ। यदि इस क्षण नहीं हूँ तो कभी हो भी सकता हूँ तथा कभी हुआ भी था। मैं कभी देह के लिए, कभी सन्तान के लिए, कभी पद-प्रतिष्ठा के लिए, कभी धन के लिए तथा कभी प्राकृतिक आधिदैविक, आधिभौतिक विपदाओं से भयभीत भी हूँ। देह पर आधारित कष्टों—आधि, व्याधि, उपाधि, मल, विक्षेप, आवरण आदि जो मुझे मिले थे या भविष्य में मिलने की सम्भावना है, क्या मैं उनसे देह के द्वारा मुक्ति पा सकता हूँ? सत्संग का अर्थ क्या है? हम आध्यात्मिक जीवन क्यों जी रहे हैं, इसके पीछे क्या सत्य है? इसका अर्थ यह नहीं है कि यह भौतिक जगत सब असत्य है। परन्तु यदि यह सत्य है तो यह चेतन और आनन्दित क्यों नहीं है। यह सब कुछ सच्चिदानंद की सृष्टि है, यदि चेतन है तो जन्म-मृत्यु क्यों है? यदि आनन्द है तो भय, विक्षेप, त्रास आदि क्यों हैं?

मुझे विलक्षण मानव-देह मिली है, मैं जीवन से क्या चाहता हूँ? कि मेरा एक-एक क्षण आनन्द में व्यतीत हो। वहाँ भय, रोग, दोष, विक्षेप, शोक, चिन्ता, वैर, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष कुछ न हो। वहाँ प्रेम, सौहार्द्र, आत्मीयता व स्नेह हो, यह सभी चाहते हैं। ईश्वर ने जिसे निर्मित किया है, वह **सच्चिदानंद** है, तो यह देश, काल, धर्म, कर्म आदि क्या हैं, क्यों हैं? क्या यह सब मेरी उलझन को बढ़ाने के लिए हैं या सुलझाने के लिए हैं? कहीं मैं उलझनों को और बढ़ा तो नहीं रहा हूँ। मेरा वास्तविक धर्म-कर्म क्या है?

क्या ये धर्म-कर्म ईश्वर-निर्मित हैं? देह तो ईश्वर निर्मित है और स्वयं को देह मानकर मैंने बहुत कुछ अपने ऊपर आरोपित कर लिया। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश व अग्नि जिन पंच महाभूतों द्वारा देह निर्मित थी, इनका स्वयं में कोई देश, काल, धर्म, कर्म, कर्तव्य, सम्बन्ध, लिंग, गुण आदि नहीं था। फिर मैं इनमें क्यों व कैसे बँध गया? पशु-पक्षियों का भी कोई धर्म, कर्म, देश, काल नहीं होता। **अर्थात् मैंने स्वयं को देह माना और स्वयं को आनन्दित व सशक्त बनाने के लिए जो-जो अपने ऊपर आरोपित किया, वह कुछ भी ईश्वरीय नहीं था। हम उसमें उलझे हुए हैं, जो ईश्वरीय नहीं है।** धर्म, कर्म, जातियाँ आदि ईश्वरीय नहीं हैं। क्यों देशों-विदेशों के लिए वीज़ा लेना पड़ता है। सम्पूर्ण पृथ्वी उस ईश्वर की है, पशु-पक्षियों के लिए वीज़ा क्यों नहीं है? क्या कभी कोई किसी देश में ऐसा शासक हुआ, जो यह कहे कि सारी पृथ्वी उस ईश्वर की है, जिसको जहाँ जाना हो जाए, कोई रोक-टोक नहीं है। जिसको जहाँ रोज़ी-रोटी मिलती है, वह वहाँ रह सकता है। मानव ने पृथ्वी को तो सीमाओं व देशों में बाँट दिया, लेकिन हवा को फिर भी कोई विभाजित नहीं कर पाया। अग्नि, जल, वायु, आकाश का भी कोई धर्म नहीं है।

सम्बन्ध ईश्वरीय नहीं है, अपनत्व ईश्वरीय है। **मैं मानव होकर उलझा उसमें हूँ जो मेरी अपनी संरचना है, ईश्वरीय नहीं है।** धर्म, कर्म, कर्तव्य सब मैंने ही अज्ञानवश बनाए। तो मैं यह सब क्यों कर रहा हूँ? जब मुझे मालूम है कि मुझे मेरे अगले क्षण की सुनिश्चितता नहीं है, तो मैं लम्बी योजनाएँ क्यों बनाता हूँ? मैं इसी में उलझ कर रह गया और अपनी सम्पूर्ण बुद्धि को उसी में तन्मय कर दिया। **मैं अपनी बनाई हुई वस्तुओं में ही उलझ कर रह गया। मेरा धर्म, कर्म, कर्तव्य, देश, समाज, स्थान, पद, प्रतिष्ठा, सम्बन्ध, काल, जीवन-स्तर, आर्थिक-स्तर जो कुछ भी मैंने स्वयं बनाया, उसमें मैं फँस गया और उलझ गया।** हमारी हर वस्तु में स्वार्थ है। हम पूर्णतः स्वार्थी भी तो नहीं होते। यदि हों तो अपनी देह को गलाते हुए नशा क्यों करते हैं? इसमें क्या स्वार्थ सधता है? महत्त्वपूर्ण यह है कि मैं

दुःख क्यों भोग रहा हूँ, क्योंकि मैंने देह जो मेरी नहीं थी, उसे अपने 'जीवन के लिए कृत्यों' से लाद दिया। **'जीवन काहे के लिए है' यह सोचने के लिए प्रथम औपचारिकता यही है कि जो कुछ जीवन के लिए कृत्यों का भार है, उससे खाली हो जाओ। मनुष्य-जीवन जीने के इच्छुक मानव-देहधारियों के लिए सर्वप्रथम यही औपचारिकता है।**

ईश्वर ने 'जीवन के लिए' करने के लिए सबको प्रतिभाएँ दी हैं, पशु-पक्षियों को भी दी हैं। आप थोड़ा बहुत कर लीजिए, परन्तु इन्हीं कृत्यों से आप सम्पूर्ण जीवन को निरर्थक व नकारात्मक व्यतीत कर देंगे तो 'जीवन काहे के लिए है' सोचने के लिए आपके मन-मस्तिष्क में शक्ति ही नहीं रहेगी। यदि आपने अपने सम्पूर्ण तन्त्रिका-तंत्र को 'जीवन के लिए' कार्यों में ही लगा दिया तो मानव-देह व बुद्धि का सदुपयोग आप कर ही नहीं पाएँगे। 'जीवन काहे के लिए है' यह सोचने के लिए आवश्यक है कि 'जीवन के लिए' किए जाने वाले कृत्य आपके मन व मस्तिष्क तथा तन्त्रिका-तंत्र पर हावी न हो जाएँ। वस्तुतः हमारा दिल, दिमाग अधिकतर इन्हीं कृत्यों में उलझा हुआ है। हमने स्वयं को व्यर्थ ही देह व देह से सम्बन्धित जगत के लिए कृत्यों से ठसाठस भरा हुआ है। **जब तक हमारा मन व मस्तिष्क उन कृत्यों से खाली नहीं होगा, तब तक हम यह जानने के अधिकारी भी नहीं होंगे कि 'जीवन काहे के लिए' है? अतः हमारा दिल, दिमाग हमारे द्वारा निर्मित समस्त कृत्यों, योजनाओं व परियोजनाओं से पूर्णतः खाली होना आवश्यक है।** तभी हम दिव्यता के प्रकटीकरण के लिए किसी मार्ग का अनुसरण करने के अधिकारी होंगे।

आप यदि वास्तव में आध्यात्मिक जीवन में प्रविष्ट होना चाहते हैं तो आपको अन्धकूप से बाहर निकलना होगा। मानव-देह लेकर मानव-जीवन जीना होगा। मानव-जीवन का विशिष्ट उद्देश्य है। यदि आप यह सब नहीं सोचेंगे तो आपको जिसने यह देह दी है, वही आपको सज़ाएँ भी देगा। वह आपको देह, परिवार, सन्तान आदि में ऐसा उलझा देगा, कि आप चाह कर भी नहीं निकल पाएँगे। **मानव-देह जो पंच-महाभूतों का सर्वोत्कृष्ट,**

विलक्षणतम्, भव्यतम् संगम है, उसे आप इस तरह व्यर्थ नहीं कर सकते। मानव-जीवन का उच्चतम् उद्देश्य यदि आप प्राप्त करना चाहते हैं तो दिल, दिमाग को खाली कर दीजिए। लेकिन खाली कैसे होगा?

मानव-देह लेकर मानव-जीवन जीना है। भौतिक जगत में हम छोटी से छोटी वस्तु का भी टैक्स देते हैं। आप पैसा कमाते हैं, आयकर देते हैं। बिजली, पानी व सड़कों आदि का भी टैक्स देते हैं। तो मानव-देह प्राप्त करके आप उसका क्या टैक्स दे रहे हैं? यदि नहीं दे रहे तो उसे भोगेंगे कैसे? अतः प्रभु के सम्मुख इस देह का समर्पण करिए, उस प्रभु की वाह-वाह करिए, कि विशिष्ट प्रतिभाओं से युक्त इतनी भव्य देह आपने मुझे क्यों दी है, मैं नहीं जानता। आप सब जानते हैं, जो कुछ भी आप कर रहे हैं वह आवश्यक नहीं है, वह आपके बिना भी हो सकता है। इसलिए कोई भी नहीं जानता कि उसे देह किस विशिष्ट कर्म के लिए मिली है। आप सारी बातें छोड़ दीजिए, कि यह जगत क्या है, माया क्या है, ईश्वर क्या है, जीवात्मा क्या है? आप यह अच्छी तरह से जानते हैं, कि आपने अपनी देह का निर्माण स्वयं नहीं किया, अपने माँ-बाप, पति-पत्नी व अन्य पारिवारिक सम्बन्धों, देश-काल किसी भी वस्तु का निर्माण आपने नहीं किया। आप नहीं जानते कि यह देह जो आपको मिली है, वह कब, कैसे, किन परिस्थितियों में जाएगी। आप पैदा क्यों हुए, आप नहीं जानते।

आप जानते हैं, कि आप नहीं जानते और वह ईश्वर जानता है कि वह सब कुछ जानता है। तो जो जानता है, उससे पूछिए कि यह देह व दुनिया आपको क्यों दी है? आप अपना जो घोड़ा दौड़ा रहे हैं, उसे शान्त कर दीजिए, दिल-दिमाग खाली कर दीजिए। तब ईश्वर जनवाएगा कि **मैंने तुझे यह देह क्यों दी है, काहे के लिए दी है। ध्यान रहे ! इस देह से जो कुछ भी होना है, वह भी ईश्वर स्वयं ही करेगा, आपने कुछ नहीं करना।** आपका जप, तप, साधना, यज्ञ, हवन, दान, पुण्य अथवा कोई भी पुरुषार्थ कर्म केवल तभी फलीभूत होगा, जब उसमें से आपका अहं समाप्त हो जाएगा। जब तक आपका अहं कि **मैंने किया, मैंने दिया** आदि दिल-दिमाग

में से नहीं निकल जाएगा, तब तक कुछ भी फलीभूत नहीं होगा। आप करेंगे कुछ और, लेकिन होगा कुछ और ही। **स्वयं कर्ता बनने का अपराध क्षम्य नहीं है।** सत्संग मिला या संत मिला, इस पर कभी भी अपना अहं नहीं रखना। आप तो अपने बच्चों तथा परिवार के लोगों के यश एवं बड़ाई का श्रेय भी स्वयं लेने से बाज़ नहीं आते। जो ईश्वरीय है और स्वतः हो रहा है, उस पर भी आप अपना अहं रखते हैं। इसलिए आप सभी बोझों के तले दबे हुए हैं।

अपने मन-मस्तिष्क को खाली कर दीजिए। यह कैसे होगा? भौतिक व सांसारिक विधाओं से किसी प्रकार खाली होते हैं तो आप ईश्वर को पाने की चाह में स्वयं को अनेक जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, अनुष्ठान, पुनःश्चरण आदि प्रकरणों से भर देते हैं। जाप की गणना में स्वयं को बाँध लेते हैं, कि मुझे इतनी माला रोज़ करनी ही हैं। आप स्वयं को गिनती में बाँध रहे हैं तो बंधन कैसे छूटेगा ! हम आसन, मुद्राओं, प्रकरणों आदि में बँध जाते हैं। धर्म-कर्म में भी हम यही कर रहे हैं। चिह्न, चक्रों, वस्त्रों और बाहरी आडम्बर में हम और बँध जाते हैं। हम तो मन-मस्तिष्क को खाली करने के लिए उसे और अधिक भर रहे हैं। पहले व्यक्ति अपने पद, कारोबार, सन्तान, देश, समाज में उलझा हुआ था। अब धर्म-कर्म में उलझ जाता है। इस सीमा तक उलझ जाता है, कि उससे लड़ाई-झगड़े, खून-खराबे तक हो जाते हैं।

आप जानते हैं, कि देह आपकी नहीं है, किसी सत्ता ने आपको दी है। आप उस सत्ता के सम्मुख आर्तनाद करिए, गिड़गिड़ाइए। अपनी भाषा में और अपने भावानुसार उसके सम्मुख देह का समर्पण करिए कि "महाप्रभु ! मैं नहीं जानता आपने यह देह और आज का दिन मुझे क्यों दिया है? यदि आपने मुझे यह देह इसलिए दी है कि मैं आपको जानूँ, तो प्रभु ! आप ही जनवाइए और मुझे आनन्द में जीने दीजिए। आप सच्चिदानंद हैं। मैं आपकी ही रचना हूँ और कष्टों में दुःखी हो रहा हूँ। इसका अर्थ है कि मेरे कृत्यों में कहीं कोई भारी त्रुटि अवश्य है। मैं नहीं जानता जीवन कैसे जीना

है। आप सब कुछ जानते हैं। इसलिए मेरी ओर से इस चमत्कारिक देह को आप ही चलाइए। क्योंकि जब-जब मैंने इसका स्वयं प्रयोग किया है, मैं फँसा हूँ।'' **हम एकदम मुक्त हो जाएँगे। क्योंकि देह हमने माँगी नही थी, हमको दी गई थी। यदि हमको इससे काम लेना नहीं आता कि कब, क्या और कैसे करना है, तो स्वीकार कर लीजिए और इसे देने वाले को समर्पित कर दीजिए। हम उसी क्षण मुक्त हो जाएँगे।**

कोई जप, तप कभी आप से हो जाए तो कह दीजिए, ''प्रभु ! आपने कराया तो हो गया, मैं तो इसका अर्थ भी नहीं जानता।'' आप अपनी असमर्थता घोषित कर दीजिए। **''मैं जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता और तुम सब कुछ जानते हो। तुम, तुम हो, मैं, मैं हूँ, लेकिन मैं तुम्हारी वजह से ही हूँ।''** नहीं तो आप उलझ जाएँगे। ''प्रभु ! यदि आपने मानव-देह दी है, तो यह मानव-जीवन भी मेरी ओर से आप ही चलाइए।'' तो आपके लिए वह चलाएगा। जैसा आपको बनाया है, उसके अनुसार चलाएगा और आप आनन्द में रहेंगे। जहाँ अपना हस्तक्षेप रखेंगे वहीं तनाव उत्पन्न हो जाएगा। सोचिए ! प्रभु सच्चिदानंद हैं तो उसकी सृष्टि में दुःख, पीड़ा, कष्ट, त्रास, रोग, दोष, भय क्यों हैं? इसलिए आप जीवन में खुल जाइए, उलझिए मत। उस सच्चिदानंद पर सब कुछ छोड़ दीजिए। धार्मिक कर्म-काण्डों का अनुसरण करना चाहेंगे तो उसमें उलझ जाएँगे। **इसलिए प्रभु के सम्मुख अपनी निरीहता, असमर्थता, अशक्तता स्वीकार कर लीजिए, कि ''प्रभु ! आज तक जो कुछ भी मैं करता रहा हूँ, भ्रमवश करता रहा हूँ। अब मैं तुम्हारी कृपा एवं शक्ति से जान गया हूँ, कि मैं कुछ भी नहीं जानता। आज का दिन आपने क्यों दिया है, देह क्यों दी है, मैं नहीं जानता। अतः जो भी मुझसे करवाओ आप ही करवाओ।''**

कुछ भी कार्य जब आप तनावित होकर करेंगे, वह कार्य कभी सफल नहीं होगा। वह कार्य आपके लिए आवश्यक ही नहीं है। जो भी व्यापार या कारोबार तनावित होकर फैलाया जाएगा, उसका फल भी तनाव ही होगा। लेकिन प्रभु आपसे जो करवाएँगे वह आनन्द में और सहज भाव से ही होगा।

वह 'जीवन के लिए' भी करवाएँगे और 'जीवन काहे के लिए है' से सम्बद्ध कार्यों के लिए भी आपको प्रेरित करेंगे। आपको सुविधाएँ देगें, उचित स्थान देंगे। जब हमें देह दी गई है तो थोड़े बहुत दैहिक कष्ट तो होते ही हैं, लेकिन मेरा आनन्द क्यों लुप्त हो रहा है, यह विचार करिए। जो भी आप करें उस पर प्रभु का नाम लगा देना। यदि अपना नाम लगा दिया, कि मैंने किया है, तो फँस जाएँगे। मैं बिल्कुल सहज रूप में अपने जीवन का दर्शन व अनुभूतियाँ आपके सम्मुख रख रहा हूँ। प्रभु-कृपा से हमारा सर्वदा यह भाव बना रहे कि प्रभु ! आप ही करो, आप ही करवाओ। जब आप सब कुछ उसके ऊपर छोड़ देंगे तो प्रभु ही आपसे करवाएँगे और जीवन की बागडोर अपने हाथ में ले लेंगे। यह भ्रम भी हटा दीजिए कि जीवन की डोर आपके हाथ में है, सब कुछ उसी प्रभु के हाथ में है। आप बहुत कुछ करते हैं फिर भी होता वही है, जो **वह** चाहता है। यह भी आप अच्छी तरह से जानते हैं, कि आपके करने से कुछ होने वाला नहीं है। वही होगा जो प्रभु चाहेंगे। उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता।

आपको प्रभु ने जो देह दी है, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक शक्तियाँ दी हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दी हैं, उनसे प्रभु आपको वहीं चलवाएँगे, जहाँ चलवाना है। आपको आँखें दी हैं, वह दिखाएँगे जो आपको दिखाना है। जो नहीं दिखाना है, आपके हित में नहीं है, वह देखने की प्रेरणा नहीं देंगे। आपको जिह्वा दी है, प्रभु आपको वही खिलवाएँगे जो आपके हित में है। आपको वही सुनवाएँगे, जिसके लिए आपको कान दिए हैं। लेकिन आप सुनना वह चाहते हैं, जो आप चाहते हैं। **कान उसके हैं, सुनना आप चाहते हैं, आँखें उसकी हैं, देखना आप चाहते हैं, जीभ उसकी है, खाना आप चाहते हैं, त्वचा उसकी है, छूना आप चाहते हैं, नाक उसकी है, सूँघना आप चाहते हैं।** वहीं पर हम फँस जाते हैं। अतः सब कुछ दिल, दिमाग खाली करके उस पर छोड़ दीजिए। फिर वह दिव्य-प्रकाश से उसे आलोकित करेगा, कि मैंने तुम्हें इसीलिए बनाया है।

मानव-जीवन का उच्चतम् उद्देश्य यदि आप अर्जित करना चाहते हैं,

तो मन-मस्तिष्क को खाली कर दीजिए। जो आपको मिलना है, वह आपको अवश्य मिलेगा, ईश्वर आपको देगा ही। आप छोड़ते जाइए, आपको मिलता जाएगा। **यदि आप केवल लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं, यदि आप आध्यात्मिक जीवन का मूल, आनन्द का स्रोत पकड़ना चाहते हैं, तो स्वयं को खाली कर दीजिए।** फिर आपको प्रभु आपकी मन-भावन वस्तुओं से सम्पन्न कर देंगे, आप नहीं चाहेंगे, तो भी करेंगे।

संसार आपको रहने के लिए मिला है, यदि संसार आपमें रहने लगे, तो समझिए आप भव-रोगी हैं। आध्यात्मिक जीवन में प्रविष्टि से पहले आप स्वस्थ जीवन जीना शुरू करिए। इतना व्यवहार और कारोबार रखना है, कि व्यवहार दिल-दिमाग में न रहे। वहीं से संसार का आनन्द शुरू हो जाएगा। देह आपके लिए है, आप देह के लिए नहीं हैं। जब आप देह के लिए हो जाएँगे तो देह अवश्य **84 लाख** योनियों में आपको घुमाती रहेगी। आप जीवन के परम सत्य की ओर अग्रसर होने के भी अधिकारी नहीं होंगे। इसलिए आत्म-चिन्तन अथवा स्वयं अपने विषय में ईमानदारी से निर्णय करना परमावश्यक है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(31 जनवरी 2005)

दिव्यता

(भाग – 1)

आज भारत के अति प्राचीन परम पावन त्यौहार 'वसन्तोत्सव' के उपलक्ष्य में आप समस्त परम जिज्ञासुओं के सम्मुख एक अति दिव्य विषय रखूँगा, जिसका नाम है–**'दिव्यता।'** मैं अपने पिछले कुछ प्रवचनों में स्पष्टतया इंगित कर चुका हूँ, कि हम स्वयं खो चुके हैं, इसलिए हमारा सच्चिदानन्द-स्वरूप हमसे खो गया है। **मेरी 'मैं' खोने के कारण 'तू' खो गया है।** जप-तप, ध्यान, यज्ञ-हवन, स्वाध्याय, प्राणायाम, चिन्तन, तीर्थ-यात्रा, सत्संग आदि जितना भी पुरुषार्थ है, उसका एक ही लक्ष्य है, कि सर्वप्रथम हम अपने खोए हुए स्वरूप, अपनी **'मैं'** को ढूँढ लें। जिस क्षण मुझे मेरी **'मैं'** मिल जाएगी, उसी क्षण मुझे **'तू'** भी मिल जाएगा। क्योंकि **'मैं'** और **'तू'** कभी भी एक दूसरे से पृथक् नहीं होते।

परम पिता परमात्मा, उस सच्चिदानंद ईश्वर की दिव्यता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समाहित है तथा हम स्वयं उस दिव्यता के ही अंश हैं। जिस प्रकार दूध में घी समाहित रहता है, परन्तु दूध से हम दीपक नहीं जला सकते। दीपक में यदि हम घी के स्थान पर दूध डाल दें तो दिया बुझ जाएगा। वह घी जो दूध के कण-कण में समान अनुपात से समाहित है, उसे विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा निकाला जाता है। उस घी को पुनः दूध में किसी भी प्रकार से बदला नहीं जा सकता। घी के अपने पृथक् गुण हैं। उसकी सुगन्ध व लक्षण पृथक् हैं, उसमें ज्वलनशीलता है। ठीक उसी प्रकार उस सच्चिदानंद ईश्वर की दिव्यता को समाहित किए हुए यह सम्पूर्ण

कोटि-कोटि महाब्रह्माण्ड हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष दृश्यमान है। **जिस प्रकार दूध में घी समाहित है, उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचर जगत में दिव्यता छिपी हुई है। लेकिन यह सत्य जानते हुए भी कुछ विरले जिज्ञासु ही उस दिव्यता के प्रकटीकरण के लिए लालायित होते हैं।** प्रश्न यह उठता है, कि दिव्यता के प्रकटीकरण की आवश्यकता क्या है, उस दिव्यता के लक्षण व गुण क्या हैं, उसे कैसे प्रकट करें? उसके प्रकटीकरण के प्रमाण क्या हैं?

प्रभु ने बहुत कृपा करके हमें मानव-देह दी है। वह चाहता तो हमें चौरासी लाख योनियों में से कुत्ता, चूहा, साँप, मेंढक, बिच्छू, बिल्ली, केंचुआ, नाली का कीड़ा कुछ भी बना सकता था। लेकिन उसने महा-कृपा करके हमें मानव-देह दी है। हमें इसका गर्व होना चाहिए। यदि मानव-देह प्राप्त होने के बाद भी हम वही कृत्य करते हैं, जिन्हें पशु भी करना पसन्द नहीं करते, तो यह महादुर्भाग्य के अतिरिक्त और क्या हो सकता है! देह व जीवन मिला है और एक दिन समाप्त हो जाएगा। हम सभी जानते हैं, कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और मृत्यु कब, कैसे, कहाँ होगी हम नहीं जानते। जिस प्रकार कि हम अपने जन्म के विषय में भी नहीं जानते। मानव-जीवन पाने के बाद भी यदि हमारी समस्त शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियाँ आजीवन **'जीवन के लिए'** ही संघर्षरत रहती हैं, तो निःसन्देह हम 84 लाख योनियों में भटक रहे हैं।

कभी कुछ देर एकान्त में अपनी देह से हटकर आप अपने जीवन पर एकाग्र करें, कि मैं जीवन से चाहता क्या हूँ? मैं मात्र जीवन के लिए ही जी रहा हूँ अथवा **'जीवन काहे के लिए है'** इसके लिए जी रहा हूँ। इन दोनों जीवन-धाराओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। जिस क्षण मानव-मन-मस्तिष्क में यह विचार कौंधने लगता है, कि **'जीवन काहे के लिए'** मिला है? तू पशु क्यों नहीं है, तुझे मानव-देह क्यों मिली है? इसका उत्तर पाने की जिज्ञासा दिल-दिमाग व रूह को कम्पायमान कर देती है तो उसी क्षण मानव-देह में मानवावतरण हो जाता है। ईश्वरीय सत्ता का दिग्दर्शन करने, उसे अनुभव करने की इच्छा ही जिज्ञासा है, जिसका कोई अंग्रेजी अनुवाद

इसलिए नहीं है, क्योंकि पाश्चात्य देशों में जिज्ञासा का अक्सर कोई दृष्टिकोण ही नहीं है।

मनुष्य चाहे कितना भी पतित हो जाए, वह पशु से तो फिर भी पृथक् ही रहता है। मानव और पशु में बहुत बड़ा अन्तर आज मैं आपके सम्मुख प्रथम बार रखना चाहता हूँ। यह नितान्त नवीन धारणा है और आप सभी इससे सहमत भी अवश्य होंगे। **पशु-योनि में पशु प्रकृति का बाध (उल्लंघन) नहीं कर सकता। An animal is born to follow the nature.** जितना भी प्राणी जगत है जलचर, थलचर, नभचर, कीड़े, मकौड़े तथा अन्य जीव-जन्तु उन्हें प्रकृति का अनुसरण करना पड़ता है। वे सब सूर्योदय से पूर्व उठ जाते हैं, संध्या होते ही अपने नीड़ों की ओर विश्राम हेतु दौड़ते हैं, उनके खाने-पीने की विशेष आदतें हैं, उनमें प्रजनन का विशेष समय होता है। कुत्ता, बिल्ली, साँप, चूहा आदि समस्त प्राणी-जगत प्रकृति द्वारा प्रदत्त गुण, धर्म व स्वभाव से बँधा है और उसी का अनुसरण करता है। गधा, गधा ही रहेगा, साँप, साँप ही रहेगा।

केवल मानव को ईश्वर ने यह क्षमता दी है, कि वह ईश्वर की प्रकृति का बाध कर सकता है। योगी और भोगी दोनों प्रकृति का उल्लंघन करते हैं। रात सोने के लिए है, लेकिन योगी और भोगी दोनों रात को जागते हैं। **योगी ईश्वर को पाना चाहता है और भोगी स्वयं को खो देता है।** आजकल लोग सुबह नौ-दस बजे तक सोते रहते हैं, यह प्रकृति का बाध है। पीने के लिए प्रभु ने स्वादिष्ट जल दिया है, लोग दारू पीते हैं, यह प्रकृति का उल्लंघन है। साँस लेने के लिए स्वच्छ वायु दी है, लोग धूम्रपान करते हैं, अपने फेफड़े जलाते हैं तथा वायुमण्डल प्रदूषित करते हैं। यह प्रकृति का उल्लंघन है। प्रभु ने खाने के लिए ताज़े फल, सब्ज़ियाँ दी हैं, उन्हें जिह्वा के स्वाद के लिए खूब तलकर कृत्रिम मिर्च-मसाले डालकर तैयार करना प्रकृति का उल्लंघन है। प्रत्येक ऋतु में हमारे स्वास्थ्य के अनुसार विशेष फल-सब्ज़ियाँ हमें उपलब्ध होती हैं, उनको जब हम बहुत दिनों तक फ्रिज में रखते हैं एवं जब हम सारा दिन वातानुकूलित कमरों में बन्द रहते हैं,

तो यह सब प्रकृति का उल्लंघन है। इसी प्रकार योगी भी प्रकृति का उल्लंघन करता है। हम दोनों पैरों पर खड़े हो सकते हैं, योगी एक पैर पर खड़े होकर तप करता है। देह को भोजन की आवश्यकता दिन में दो-तीन बार है, योगी दिन में एक समय भोजन करता है। **इस प्रकार भोगी और योगी दोनों प्रकृति का उल्लंघन करते हैं।** भोगों को भोगते-भोगते पतित होकर मानव की **'मैं'** बहुत ही संकुचित, क्षुद्र व सीमित होती चली गई। **'मैं और देह'** शीर्षक पिछले पाँच प्रवचनों में इस विषय का मैं विभिन्न आयामों से सविस्तार वर्णन कर चुका हूँ।

हमने बताया था कि मानव-देह के प्रारम्भ का भी एक प्रारम्भ है—पंच-प्राणों का ज्योति-पुंज। देह के अन्त का भी एक अन्त है—**'भस्मी'।** हम सबकी **'मैं'** समान है, **'भस्मी'** समान है और एक **दिव्य-ज्योति** भी सबमें समान है। वह दिव्यता भी सब में हैः—

''एक ज्योति तों सब जग उपज्या, क्या चंगे क्या मंदे।''

वह पंच-प्राणों का समूह (प्राण, उदान, समान, व्यान व अपान) सबके भीतर प्रदीप्त है। वह ज्योति हमारी देह को, एक-एक श्वास को, एक-एक पल को संचालित कर रही है। वह सर्वशक्तिमान परमात्मा और उसकी दिव्यता चर-अचर, जड़-चेतन सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड के कण-कण में समान रूप से व्याप्त है। समस्त थलचर, जलचर, नभचर, पेड़, वनस्पति, कीट, पतंग सबमें ईश्वर समान रूप से उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार दूध के कण-कण में समान अनुपात से घी छिपा है। महत्त्वपूर्ण है, **ईश्वरत्व का प्रकटीकरण**। दिव्यता का प्रकाट्य कहीं होता है, कहीं नहीं होता। सर्वप्रथम प्रश्न उठता है, कि दिव्यता का प्रकटीकरण अनिवार्य क्यों है, दिव्यता तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में है ही।

देवाधिदेव महादेव शिव, पंच-प्राणों का पुंज हैं। यह सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड उनकी शक्ति का बाह्य प्रकाट्य है। इसे माया कहते हैं। पंच-प्राणों में—**प्राण** नामक प्राण **अग्नि-रूप** में, **अपान** प्राण **वायु-रूप** में, **व्यान** प्राण **आकाश-रूप** में, **उदान** प्राण **जल-रूप** में और **समान** प्राण

पृथ्वी-रूप में प्रकट है। यह पंच-महाभूत, ईश्वर की महाज्योति पंच-प्राणों के पुंज का बाह्य प्रकटीकरण है। **ये स्वयं में सहज जड़ हैं।** इन्हें न तो अपनी सत्ता का ज्ञान है और न ही ईश्वरीय सत्ता का। अतः उस सच्चिदानंद की ज्योति का प्रकाट्य स्वयं में सहज जड़ है। इन्हीं पाँच सहज जड़ पंच-महाभूतों का संघनित रूप मानव-देह है। पंच-प्राणों की पूंजीभूत एक ही ज्योति पंच-महाभूतों द्वारा सम्पूर्ण विश्व का निर्माण, संचालन, पालन व संहार करती है। इन्हीं पंच-महाभूतों का प्रतिनिधित्व मानव-देह के चेहरे पर है। अग्नि के प्रतिनिधि नेत्र (दृष्टि) हैं, वायु का प्रतिनिधित्व त्वचा (स्पर्श) करती है, पृथ्वी का नाक (गन्ध), आकाश का कान (नाद) और जल का प्रतिनिधित्व हमारी जिह्वा (रस) करती है। पाँचों महाभूतों की प्रतिनिधि इन्द्रियों को ईश्वर ने मानव के चेहरे पर रखा है। इसीलिए हमारा चेहरा ही हमारी भौतिक पहचान है, किसी एक का दूसरे से परिचय हम चेहरे से ही कराते हैं। जब ईश्वर-विमुख होकर बहुत निम्न स्तर पर पतित हो जाते हैं तो हम विकृत होकर अपना चेहरा दिखाने योग्य भी नहीं रहते।

इन्हीं पंच-प्राणों और पंच-महाभूतों में छः ईश्वरीय विभूतियाँ भी समाहित हैं। उदान प्राण **सौन्दर्य**, प्राण प्राण **शक्ति**, अपान प्राण **ख्याति**, व्यान प्राण **ज्ञान** तथा समान प्राण **ऐश्वर्य तथा वैराग** का द्योतक है। जहाँ दिव्यता का प्रकाट्य होगा, वहाँ ईश्वर अपनी इन छः भगवत्ताओं के साथ होगा, अन्यथा नहीं होगा। दिव्यता का प्रकटीकरण इसलिए आवश्यक है, ताकि यह मायिक जगत जो ईश्वर की शक्ति का रूप है, हम इसी में न फँस जाएँ, भ्रमित न हो जाएँ। ईश्वर की माया भी उसी की तरह बहुत सुन्दर और आकर्षक है, जैसे ईश्वर हैं। उनका प्रकाट्य भी वैसा ही है। यह माया भी सौन्दर्यमयी, ज्ञानमयी, ऐश्वर्यमयी, ख्यातिमयी, शक्तिरूपा एवं वैराग्यमयी है। जो माया ईश्वर की ही तरह आनन्द से आप्लावित है, उसमें हम भाग-दौड़ कर आनन्द को ढूँढते हैं, जो आजन्म क्या कई जन्मों में भी हमें नहीं मिल पाता। जन्मों-जन्मान्तरों में जीवात्मा इसी मायिक जगत में भ्रमित है, क्योंकि मायिक-देह को ही अपना स्वरूप समझ बैठी। जीवात्मा ने

मायिक-देह से तद्‌रूप होकर मायिक जगत को देखा और अपने स्वरूप पंच-प्राणों के पुंज ईश्वर से विमुख-**सी** हो गई। विमुख-**सी,** इसलिए क्योंकि ईश्वर इसका अस्तित्व था, वह इससे कभी विलग नहीं हुआ। इस ईश्वरीय मायिक संरचना का आनन्द लेने के लिए हमें दिव्य-दृष्टि की अपेक्षा थी। जबकि ईश्वर-विमुख होकर हम इस माया में उलझे रहकर इसे ही कोसते रहे कि यह ठगिनि है, नर्तकी है, पतन का रास्ता है, आदि-आदि।

कोई भी पिता-माता अपने बच्चे को भ्रमित और दुखी करने के लिए खिलौने नहीं लाकर देते, इसलिए परम पिता परमेश्वर ने यह माया हमें उलझाने के लिए क्यों रची होगी? हमें यदि दिव्य-दृष्टि मिल जाए तभी हम इसका आनन्द ले पाएँगे। इसलिए सम्पूर्ण चराचर मायिक जगत में दिव्यता परिव्याप्त होते हुए भी उसका प्रकटीकरण आवश्यक है। प्रभु ने जीवात्मा को यह देह एक उपकरण के रूप में दी थी कि "तू इसके माध्यम से इस माया का प्रतिग्रहण करके आनन्द ले और वाह-वाह कर।" जिस प्रकार एक मोबाइल फोन आवाज को आप तक प्रेषित तो कर देता है लेकिन निर्णय तो आप ही करते हैं कि बोलने वाला क्या बोल रहा है। लेकिन यहाँ देह रूपी मोबाइल ही निर्णय लेने लगा, क्योंकि जीवात्मा जो **'मैं'** रूपी सैटेलाइट थी, वह देह रूपी मोबाइल के साथ तद्‌रूप हो गई। यदि जीवात्मा **'मैं'** के सैटेलाइट के साथ जुड़ी रहती तो देह में न फँसती। इसीलिए दिव्यता का प्रकटीकरण अनिवार्य हो गया। मुझे मेरी **'मैं'** मिलनी ही चाहिए, किसी भी तरह से। देह रूपी उपकरण में मायिक जगत के प्रतिग्रहण की शक्ति तो **'मैं'** हूँ, लेकिन **'मैं'** जैसे मोबाइल में चिप होती है, जिसका निजी नम्बर होता है, उसी प्रकार **'मैं'** देह रूपी मोबाइल का चिप बन गया। **'मैं'** अमुक-अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ, मेरा घर, मेरा कुल, परिवार, पद-प्रतिष्ठा, नाम, यश यह है। मैं एक व्यक्ति मात्र रह गया, क्योंकि दिव्यता से कट गया और इससे प्रारब्ध भी बनने लगा।

जब दिव्यता का प्रकटीकरण हो जाएगा तो **'मैं'** सीधा जीवात्मा रूपी सैटेलाइट के साथ जुड़ जाएगा। वहाँ प्रारब्ध आदि का प्रश्न ही नहीं होगा।

जितने हज़ारों, लाखों, करोड़ों मोबाइल रूपी जीव हैं, उनका सैटेलाइट एक ही है। वही जीवात्मा की **'मैं'** है और वही दिव्य-दृष्टि है। इसका प्रकटीकरण परमावश्यक है। लेकिन इसके प्रकटीकरण की प्रक्रिया से सम्बद्ध होने के लिए प्रथम आवश्यकता है, कि आपके दिल-दिमाग में मात्र एक ही विचार हो, कि ईश्वर ने मुझे यह देह रूपी, उपकरण काहे के लिए दिया है। यद्यपि ईश्वरत्व का प्रकटीकरण कर्म-साध्य नहीं है। दूध से घी निकालने के समान इसकी कोई प्रक्रिया नहीं है। लेकिन जब तक दूध से घी नहीं निकलता तब तक जो काम हम घी से लेते हैं, वह दूध से नहीं ले सकते। इसी प्रकार ईश्वरत्व कण-कण में व्याप्त है, लेकिन जब तक उसका प्राकट्य न हो जाए तब तक यह मायिक जगत हमें विदीर्ण, त्रसित व भयभीत करता रहेगा। अतः दिव्यता का प्रकटीकरण अनिवार्य है। दूध से घी निकालने की तो प्रक्रियाएँ हैं, लेकिन दिव्यता के प्रकटीकरण की कोई प्रक्रिया नहीं है। लेकिन फिर भी हमारे महापुरुषों, सन्तों ने दिव्यता के प्रकटीकरण के लिए अनेक मार्ग और प्रक्रियाएँ बताई हैं, इन्हें हम विभिन्न मार्गों के रूप में जानते हैं। जैसे यह वैष्णव है, यह शैव है, यह शाक्त है, यह वैरागी है, सनातनी है, आर्यसमाजी है, आदि-आदि। यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण और चमत्कारिक तथ्य यह है, कि ईश्वरत्व का प्राकट्य किसी मार्ग, प्रकरण या प्रक्रिया के माध्यम से नहीं होता। **महापुरुषों द्वारा बताए सब मार्ग ईश्वर की ओर जाते हैं, लेकिन कोई रास्ता ऐसा नहीं है जो ईश्वर तक जाता हो।** दूध-दही का मन्थन कर उससे घी प्राप्त किया जा सकता है। **घी निकालना कर्म-साध्य है लेकिन दिव्यता का प्रकटीकरण कृपा-साध्य है।**

यदि कोई कहे कि मैंने इतना तप किया, साधना की और तब मैंने ईश्वरत्व प्रकट किया, तो समझो वह भ्रमित है, उसे कुछ भी नहीं मिला। बुजुर्गों की, माता-पिता, सद्गुरु व इष्ट की कृपा से दिव्यता प्रकट होती है, किसी प्रक्रिया या मार्ग से नहीं होती। आप प्रक्रिया में चलिए, लेकिन चलते-चलते अपनी असमर्थता घोषित करते हुए स्वीकार कर लीजिए कि 'प्रभु ! मैं कुछ नहीं कर सकता।' तभी आपको दिव्यता की झलक मिलेगी।

सब प्रक्रियाएँ दिव्यता के लिए हैं, लेकिन इसके प्रकटीकरण की स्वयं में कोई प्रक्रिया नहीं है। इसकी मंज़िल के लिए कोई मार्ग नहीं है।

जिसकी कोई प्रक्रिया या मार्ग नहीं है, उसे कैसे पाया जाए? उस प्रक्रिया में पड़ने के लिए जिसकी कोई प्रक्रिया नहीं है, उस मार्ग की ओर उन्मुख होने के लिए एक विशेष औपचारिकता है। उसके लिए आपको ज्ञात होना चाहिए कि आपको यह मानव-देह किसलिए मिली है? प्रभु ने आपको साँप, चूहा, मक्खी, मच्छर, गधा, घोड़ा क्यों नहीं बनाया। मैंने अपने प्रवचनों में बार-बार दोहराया है, कि मानव-देह यह जानने के लिए मिली है कि, 'यह हमें क्यों मिली है?' हममें से अधिकतर लोग न यह जानते हैं और न ही जानना चाहते हैं। बिना कुछ भी जाने देह पर अनधिकृत कब्ज़ा कर लेते हैं, कि **'यह देह मेरी है'** और **'मैं देह हूँ'**। जबकि देह के विषय में हमें कुछ मालूम नहीं कि अगले क्षण क्या होगा? इसका सारा रिमोट उस ईश्वर के हाथ में है। दिव्यता के प्रकटीकरण की कोई प्रक्रिया नहीं है, क्योंकि यह कृपा-साध्य है, कर्म-साध्य नहीं है। होश सम्भालते ही हम देह के लिए भागना प्रारम्भ कर देते हैं, बिना यह जाने या जानने की कोशिश किए कि मुझे यह देह मिली क्यों है? जिसके एक-एक क्षण का मालिक वह कालेश्वर है और मेरे हाथ में कुछ नहीं है। **आपको बुद्धि इसलिए मिली है, कि सोचें, सोचें और सोचें तथा उत्कृष्टतम् बुद्धि से आश्वस्त हो जाएँ कि आपके हाथ में कुछ नहीं है। जो ईश्वर कर रहा है, उसकी वाह-वाह करें।** वह मालिक है। जिस समय, जैसा चाहेगा वह खेल खिलाएगा। हम सब आत्मविश्लेषण करें कि मेरे दिल-दिमाग में किस प्रकार की विचार-श्रृंखलाएँ चल रही हैं? देह और देह पर आधारित जगत से सम्बन्धित विचारों से हमारा मन-मस्तिष्क भरा रहता है। वही दिमागी वैचारिक भाग-दौड़ शीघ्र ही अथवा विलम्ब से हमारे बाह्य जगत में भी प्रकट हो जाती है। जितनी भी भाग-दौड़ है, वह अक्सर इन्द्रिय-जनित ही होती है। वह इन्द्रियों के सुख की लालसा से शुरू होती है। सुख-साधनों की ओर प्रवृत्ति होते ही आपका आनन्द आच्छादित हो जाता है और आपका चौरासी लाख योनियों में भटकना प्रारम्भ हो जाता है।

यदि आपके दिल-दिमाग में सांसारिक भटकन है, उसकी 84 लाख विधाएँ हैं, जिन्हें हमारे मनीषियों ने अपने ध्यान में देखा है। मानव-देह मिलना महत्त्वपूर्ण नहीं है, मानव-देह में आप मानव-जीवन जी रहे हैं या नहीं, यह महत्त्वपूर्ण है।

मानव-देह में मानव-जीवन 84 लाख पशु योनियों के बाद प्रारम्भ होता है। आप अपना स्वयं विश्लेषण कर लीजिए। यदि आप में सांसारिक विचार-श्रंखलाएँ चल रही हैं, तो वे देह व इन्द्रियों के सुखों की लालसा से प्रेरित ही होगीं, जिससे निश्चित तौर पर आपका आनन्द आच्छादित हो जाएगा। सगे-सम्बन्धी, दोस्त-दुश्मन, परिवार-समाज, देश, सन्तान, ज्ञानवर्धन, धन-सम्पदा, प्रौपर्टी, पद, प्रभाव यानि देह व जीवन के लिए होने वाली भाग-दौड़ पशुवत् ही है। इसी में 84 लाख योनियाँ हैं। इसलिए आपकी सम्पूर्ण विचार-श्रंखलाएँ और कृत्य इसी दिशा में चलने चाहिएँ कि मुझे यह मानव-देह व जीवन **'काहे के लिए'** मिला है। यदि साँप, बिच्छू, चूहा, चींटी भी वही कर्म कर रहे हैं, जो मैं कर रहा हूँ तो मेरे में और इन कीट-पतंगों में अन्तर ही क्या है? मैं मानव-देह धारण करके भी मानव-जीवन नहीं जी रहा हूँ। देह व जीवन के लिए ईश्वर ने सारे प्रबन्ध किए हुए हैं, यदि करना भी है तो उतना ही कि:—

''साईं इतना दीजिए जा में कुटुम्ब समाए,
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाए।''

आप उस प्रक्रिया में समाविष्ट होने जा रहे हैं, जहाँ कोई प्रक्रिया नहीं है। हम उस प्रक्रिया में समाविष्ट होने के लिए प्रथम औपचारिकता के विषय में चर्चा कर रहे हैं। पहले यह जानें कि मुझे यह मानव-देह 'काहे के लिए' मिली है। हम होश सम्भालते ही 'जीवन के लिए' भागने-दौड़ने लगते हैं। रोटी, कपड़ा और मकान ही हमारा देह धारण करने का लक्ष्य हो जाता है। मकान और सुन्दर चाहिए, गाड़ी सबसे कीमती व आलीशान हो, पद ऊँचे से ऊँचा हो, हमारा नाम यश फैले, दुनिया की सब सुख-सुविधाएँ हमारे पास हों। हमारी सम्पूर्ण चेतना इन्हीं आसक्तियों को पूरा करने में तल्लीन

रहती है। ये आसक्तियाँ कभी पूरी नहीं होतीं, इन्हीं को लिए हुए हम मर जाते हैं और पुनः इन्हीं को लेकर शून्य से प्रारम्भ करते हैं। यह कभी सोचने की फुर्सत ही नहीं मिलती कि यह जीवन काहे के लिए है। जीवन के लिए तो जानवर भी नहीं भागते। वे अक्सर झुण्डों में घूमते हैं और मस्ती करते हैं। ईश्वर उन्हें उनकी प्रकृति के अनुसार सब कुछ प्रदान करता है।

जब आपके दिल-दिमाग व रूह में यह दिव्य ख़याल हावी हो जाए, कि 'जीवन काहे के लिए' है, तभी आप मानव-देह धारण करके मनुष्य कहलाने के अधिकारी हैं। जब आपके मन-मस्तिष्क में जीवन 'काहे के लिए है' से सम्बन्धित जिज्ञासा कौंधने लगती है तो ईश्वर प्रसन्न हो जाते हैं और आपको श्रद्धापूरित करके सद्गुरु के चरणों में पहुँचा देते हैं।

सद्गुरु द्वारा बताए गए मार्ग पर चलते...चलते...चलते...चलते जब जीव थककर, चूर होकर, मूर्छित होकर, चक्कर खाकर ढह जाए कि ''त्राहि माम्, त्राहि माम् प्रभु ! मैं तुम्हें नहीं पा सकता।'' तो वहाँ से दिव्यता का प्रकाट्य हो जाता है। जो मैं कहना चाहता हूँ, वह यह कि जब आप अहंकार त्यागकर आर्तनाद करें कि ''प्रभु ! मैं किसी भी प्रक्रिया से तुम्हें नहीं पा सकता। मेरे लिए यह असम्भव है, मुझे नहीं ज्ञात कि तुम कहाँ हो।'' तो वहाँ मंज़िल प्रकट हो जाती है, क्योंकि यह एक दैवी औपचारिकता है। यह नहीं कि उस मार्ग पर चलकर या इस प्रक्रिया द्वारा मैंने प्रभु को पा लिया। प्रभु को पाना इतना सरल नहीं है, कि हम किसी मार्ग से उसे पा लें। मार्ग हैं, हमारे महापुरुषों ने जप, तप, यज्ञ-हवन, प्राणायाम, यम, नियम, आसन आदि अनेक प्रक्रियाएँ बताईं हैं और सभी मार्ग ईश्वर की ओर जाते हैं। लेकिन ईश्वर तक कोई मार्ग नहीं जाता। ये सभी प्रक्रियाएँ करते हुए और मार्ग पर चलते हुए, जब आप स्वयं में असमर्थ, अशक्त व निरुपाय हो जाएँ, उसके दर पर ढह जाएँ और आपका अहंकार समाप्त हो जाए तो इस सोपान पर दिव्यता प्रकट होनी शुरू हो जाती हैः–

''पड़ा रहने दो अपने दर पर मुझको क्यों उठाते हो,
मेरी किस्मत सँवरती है तुम्हारा क्या बिगड़ता है।''

मार्ग पर चलते-चलते थककर, मूर्छित-प्रायः होकर जब ईश्वर को पाने की आशा छोड़ बैठे। साथ ही यह भाव भी आ जाए कि 'मैंने तुम्हें पाने की आशा करने का साहस भी क्यों किया, मेरी हैसियत ही क्या है? अब मैं यह आस भी नहीं करूँगा कि मैं तुमसे मिल सकता हूँ। प्रभु ! मुझे क्षमा करो कि मैंने तुमसे मिलने की उम्मीद की। मैं अपनी हैसियत भूल गया था। अब मैं दुस्साहस नहीं करूँगा।'' जब आस की आस टूट जाए। आप शिथिल, अशक्त, निरुपाय हो जाएँ, इस बिन्दु पर दिव्यता का प्रकाट्य हो जाता है उस समय मार्ग, मार्ग नहीं रहता। जीव यह भूल जाता है, कि उसने कभी कोई जप, तप किया भी था अथवा किसी मार्ग पर वह चला भी था। वहाँ पर मंज़िल स्वयं आ जाती है। वहाँ पर सद्‌गुरु अपने पूर्ण स्वरूप में प्रकट हो जाता है। नहीं तो आप किसी नाम-रूप में देह को ही सद्‌गुरु मानते रहेंगे, जो कि नितान्त मिथ्या धारणा है। सद्‌गुरु देह नहीं हैः–

''गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवौः महेश्वरः
गुरु साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै श्री गुरवे नमः।''

पारब्रह्म परमेश्वर कभी साक्षात् नहीं होता। वह न दिखाई देता है, न उसकी ध्वनि होती है, जो सुनाई दे, उसका स्पर्श नहीं होता, उसकी गन्ध नहीं होती, उसका हम स्वाद नहीं ले सकते। वह निराकार है, कभी साकार नहीं होता। लेकिन जब वह साक्षात् साकार हो जाता है तो गुरु के रूप में पृथ्वी पर प्रकट हो जाता है। प्रश्न उठता है पारब्रह्म परमेश्वर सद्‌गुरु के रूप में प्रकट क्यों हुआ? किसी दिव्यात्मा सद्शिष्य की जिज्ञासा जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है कि 'मैं कौन हूँ?' तो उस पारब्रह्म परमेश्वर को साकार नाम-रूप में प्रकट होना पड़ता है। यद्यपि वह स्वयं नाम-रूप से बँधा नहीं है। नाम-रूप की देह उसका मात्र एक रूप है। वह सद्शिष्य को मार्ग बताता है, कि यह जप कर, तप कर, दान-पुण्य कर, यज्ञ-हवन कर। वह विभिन्न पुरुषार्थ कर्म बताता है। पुरुष+अर्थ यानि तेरी चेतनता का अर्थ क्या है? तू है कौन? उसके प्रति सद्‌गुरु मार्ग बताता है और सद्शिष्य उनका अनुसरण करता है। वह कालचक्र से कूद कर तथाकथित अपना तन, मन, धन

सद्गुरु के प्रति समर्पित कर देता है।

वह भस्मी बन जाता है, कि 'मैं भस्मी हूँ।' अपना नाम-रूप और उस पर आधारित समस्त सृष्टि का महात्म्य उसके लिए समाप्त हो जाता है। ईश्वरत्व का आभास तभी होगा जब आपको अपनी विशुद्ध 'मैं' की अनुभूति हो जाएगी। सद्शिष्य आत्मसमर्पण करके, समर्पण का समर्पण करके जब सद्गुरु के चरणों में पहुँचता है, वहाँ सद्गुरु उसे अनुभूति कराता है, कि तुम वहीं हो। वहाँ सद्गुरु का गुरुत्व प्रकट हो जाता है। **जिसने मार्ग पर चलाया था वह सद्गुरु का रूप था और जो मंज़िल दिखाता है और कहता है कि चलने का मार्ग नहीं है, वह सद्गुरु का स्वरूप है। जब तक सद्शिष्य चलता है, तब तक वह मार्ग है और जब ढह पड़ता है, 'त्राहि माम्' कह कर असमर्थता से आर्तनाद करता है, तो वह मंज़िल है।**

जब दिव्यता प्रकट हो जाती है तो व्यक्ति पुनः साधारण संसारी व्यक्ति नहीं बन सकता। एक बार जब मल, विक्षेप व आवरण हट जाता है, दुबारा कभी नहीं पड़ता। दिव्यता के प्रकट होने का प्रथम लक्षण यह है, कि आप जीवन्त वर्तमान में रहने लगते हैं। वह मानसिक स्थिति जब आप जीवन्त वर्तमान में स्थिर हो जाते हैं, वही आनन्द की स्थिति है। इसके साथ ही दिव्यता की छः विभूतियाँ सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति व वैराग्य भी आपमें झलकने लगती हैं।

इस वसन्तोत्सव में आपको मैं हार्दिक बधाई देते हुए सुमंगल कामना करता हूँ कि आप दिव्य, आनन्दमय जीवन व्यतीत करें और आप सभी ईश्वरीय विभूतियों से विभूषित हों।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(13 फरवरी 2005)

दिव्यता

(भाग – 2)

आज आप समस्त परम जिज्ञासुओं के सम्मुख इष्ट-कृपा एवं प्रेरणा से **'दिव्यता'** विषय की दूसरी कड़ी का विमोचन करूँगा। सम्पूर्ण कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का दृश्य अथवा अदृश्य प्रत्येक अणु-परमाणु दिव्यता से ओत-प्रोत है। इसमें ईश्वरत्व ठसाठस भरा हुआ है। हमारे भारत के सन्तों, ऋषियों, महर्षियों, मुनियों, तपस्वियों, जिज्ञासुओं एवं तत्त्वज्ञों ने अनादि-काल से इस दिव्यता के प्रकटीकरण की चेष्टा में अपने जीवन-दर-जीवन बिता दिए और सम्पूर्ण विश्व को दिव्यता का प्रकाट्य दिग्दर्शित कराया। दिव्यता के संदेश व उसके संकर्षण से सम्पूर्ण विश्व भारत की ओर आकर्षित है। अनादि-काल से बड़े-बड़े आक्रान्ताओं एवं तथाकथित योद्धाओं ने भारत को पदाक्रान्त किया, लेकिन हमारी इस शाश्वत् पूँजी को नष्ट नहीं कर सके।

ईश्वर प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पंच-प्राणों का पुंज है। इन पंच-प्राणों का बाह्य प्रकाट्य पंच-महाभूतों पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश के रूप में होता है और इन्हीं से सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का निर्माण, पालन एवं संहार होता है। यह ईश्वर की माया है, लीला है, खेल है। **ये पंच-महाभूत स्वयं में सहज जड़ हैं और निराकार हैं। ईश्वर अपना खेल जैसा चाहते हैं, वैसा ही चलाते हैं।** सहज जड़ता के कारण ये पंच-महाभूत कोई टीका-टिप्पणी नहीं कर सकते कि यह ऐसा क्यों हो रहा है। हमारे मनीषियों ने समाधिस्थ होकर इन तत्त्वों को जाना और वे तत्त्वज्ञ कहलाए।

तत्त्वज्ञ तत्त्वातीत होता है। मानव-देह भी इन्हीं निराकार पंच-महाभूतों का साकार चमत्कार है और **जीवात्मा परमात्मा का अंश है। उसका अपना पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है।** परमात्मा ने जीवात्मा को अधिकार दिया है कि मैं तुम्हारे माध्यम से खेल रचाने वाला हूँ। पंच-महाभूतों में इस समस्त मायिक सृष्टि का निर्माण, पालन एवं संहार होगा। होगा बहुत कुछ लेकिन कुछ नहीं होगा। तुम्हें मैं आनन्द से दिखाऊँगा, तुम आनन्दपूर्वक देखना। जीवात्मा को भी कुछ अधिकार दिया कि तुम कर्म करने के लिए स्वतन्त्र हो, लेकिन कौन सा कर्म यह जानना आवश्यक है।

आज इष्ट-प्रेरणा से हम **कर्मयोग, भक्तियोग** व **ज्ञानयोग** जैसे शब्दों को बदल रहे हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से **योगकर्म, योगभक्ति** और **योगज्ञान** शब्द सार्थक हैं। **सुनी सुनाई बातों पर अन्धविश्वास का नाम अध्यात्म नहीं है, अध्यात्म अनुभूति का विषय है।** जैसाकि हमने अनुभव किया है, कि **हमारे हाथ में कुछ नहीं है, ईश्वर हमारे हाथों से वह करवा लेते हैं, जो हमारे हाथों में बिल्कुल नहीं है।** इसलिए जिस कर्म का अधिकार **'श्रीमद्भगवत् गीता'** के अनुसार मानव को मिला था, वह कर्म कुछ और ही था। सर्वप्रथम मानव ईश्वर से जुड़ता है, जिसे कहा है—**'योग'।** उसके बाद वह करना-कराना सब भूल ही जाता है। यदि करना-कराना याद रहता है तो समझना चाहिए कि वह ईश्वर से जुड़ा हुआ ही नहीं है। जैसेकि कोई सोया हुआ व्यक्ति कहे कि 'मैं सो रहा हूँ' अथवा कोई मृतक कहे कि 'मैं मरा हुआ हूँ'। इसका अर्थ है कि न तो वह सोया हुआ है और न ही वह मरा हुआ है। ईश्वर से हम **बिछुड़े-से** हैं, ईश्वर से हम सभी जुड़े हुए हैं, लेकिन जब हमें ईश्वर से जुड़े होने की अनुभूति हो जाती है तो किसी भी धर्म-कर्म, कर्तव्य, सम्बन्ध, देश, काल, गुण, अवगुण का अस्तित्व हमारे लिए नहीं रहता। **इस प्रकार जुड़ने के बाद ईश्वर जो भी कर्म कराएगा वे दिव्य होंगे और वह होगा 'योग-कर्म'।** आपकी जानकारी के लिए बता दूँ कि ईश्वर से बिना जुड़े हुए भी सब कर्म वास्तव में ईश्वर ही करवा रहा है। लेकिन यह दृढ़ मान्यता हो जाए और आपको तहे-दिल से अनुभूति भी हो जाए कि जो भी

आपके द्वारा होता हुआ दृष्टिगत हो रहा है, वह उस परम सत्ता द्वारा करवाया जा रहा है, **तो जो होगा अथवा जो आप करेंगे, वह सब करवाया जाएगा। मानव द्वारा वही होगा जो मंजूरे-खुदा होगा और वह वही करेगा जो मंजूरे-खुदा होगा। जिसके द्वारा ईश्वर वे कर्म करवा रहे हैं, वही 'कर्मयोगी' होगा या 'योग-कर्मी' होगा,** आप कुछ भी कह लें। उससे जुड़ने के बाद जब जीव की उसके लिए अश्रु-धारा बहेगी, जब यह भाव-विह्वल होगा, उसे **'योग-भक्ति'** कहते हैं। उससे जुड़ने के बाद जो यह सोचेगा, बोलेगा, लिखेगा अथवा जो भी इसके द्वारा प्रकट होगा चाहे शब्दों द्वारा, चाहे मौन द्वारा, वह **'योग-ज्ञान'** होगा।

बात-बात में **'गीता'** को उद्धृत कर आप स्वयं पर अपने अनुसार कर्म और अधिकार लाद लेते हैं और तथाकथित कर्मयोगी बन जाते हैं, कि 'गीता' में कृष्ण ने मानव को कर्म करने का अधिकार दिया है। **आप एक भी कर्म ऐसा बता दें जिसे करने का आपको व्यक्तिगत अधिकार हो। 'आत्म-विश्लेषण'** शीर्षक प्रवचन में मैंने विस्तार से बताया था, कि किस प्रकार आपके छोटे से छोटे कर्म के लिए ईश्वर को सारा ब्रह्माण्ड आपके अनुकूल करना होता है। **यदि आप विवेक-बुद्धि से चिन्तन करेंगे तो आश्वस्त हो जाएँगे कि किसी भी कर्म पर आपका निजी अधिकार नहीं है।** क्योंकि छोटे से छोटे कर्म में भी आपकी स्थूल-देह के साथ आपका समस्त सूक्ष्म-मण्डल भी सम्मिलित रहता है। गीता, रामायण, भागवत, पुराणों, वेदों आदि को प्रणाम करिए। इन पर टीका-टिप्पणी मत करिए। सद्‌गुरु के चरणों से जुड़े रहिए। उनकी कृपा होगी तो वही बताएँगे कि इनमें लिखे सूत्रों का अर्थ क्या है। जो कर्म आपके हाथों से ईश्वर अनेक रूपों में प्रकट होकर करवा रहा है, उसे आप अपना कर्म कैसे कह सकते हैं? जो आपके हाथों से भी ईश्वर करवा रहा है, वह भी आपके हाथ में नहीं है। इसे तहे-दिल व मन से स्वीकार करना ही आपका कर्म है। **यह कहना कि 'प्रभु ! जो मेरे हाथों द्वारा हो रहा है उसे करवाने वाले आप ही हैं' यह निजी अधिकार प्रभु ने आपको दिया है और यही आपका कर्म है।** महापुरुषों, सन्तों,

पीर-पैगम्बरों के अमृत वचनों का अपने हिसाब से अर्थ-अनर्थ मत करिए। यदि आप कर्मयोगी हैं तो आपसे बड़ा कर्मयोगी तो गधा, बैल, ऊँट, घोड़ा आदि पशु हैं। जोकि सारा दिन कर्म करने के बाद कुछ माँगते भी नहीं। उन्हें तो अपने द्वारा हुए कर्म का ज्ञान ही नहीं है कि उन्होंने कुछ किया है।

पंच-प्राण पुंज सहज चेतन का प्रकाट्य पंच महातत्त्व सहज जड़ हैं, जिनसे समस्त जड़ चेतन सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार होता है। सहज जड़ में जितनी क्रिया और हलचल है, वह महाचेतन के प्राणों की है। इसकी सारी चमक व झिलमिलाहट उस महाचेतन की ही है। **जैसेकि छाया की समस्त हलचल उस व्यक्ति की वजह से है, जिसकी वह छाया है। इसी प्रकार यह समस्त माया उस महाचेतन ईश्वर के पंच-प्राणों का बाह्य प्रकटीकरण है।** माया का दूसरा नाम प्रकृति भी है। यह प्रकृति उस पुरुष की है। मात्र मानव-देह का निर्माण ईश्वर ने इस प्रकार किया है, कि वह प्रकृति का उल्लंघन कर सकता है। इसका विस्तृत वर्णन **'दिव्यता—भाग 1'** शीर्षक प्रवचन में हुआ है। जितने जड़ एवं सहज जड़ हैं, वे प्रकृति का बाध नहीं कर सकते। मानव सहज जड़ नहीं है। प्रकृति ने उस पुरुष के संकेतों पर ही चलना है, उसकी अपनी कोई बुद्धि नहीं है। मानव को थोड़ा अधिकार उस ईश्वर की प्रकृति से परे हट कर चलने का मात्र इसलिए दिया गया, ताकि वह ईश्वर के कृत्यों की प्रशंसा कर सके। **इसकी अपनी देह द्वारा भी जो हो रहा है, उसका वह समर्पण कर सके कि 'प्रभु ! यह देह तुम्हारी है, तुम्हारे चलाने से चल रही है, मैंने कुछ नहीं किया है।'** जैसेकि स्क्रीन या पर्दे पर कोई फिल्म या खेल दिखाया जाता है और हम दूर से उसे देखकर आनन्द लेते हैं। पर्दे पर जो पात्र चल-फिर रहे हैं, अच्छी-बुरी क्रियाएँ कर रहे हैं, वे खुद नहीं कर रहे, निर्देशक के दिशा-निर्देश के अनुसार कर रहे हैं। देखने वालों को हँसाने या रुलाने के लिए उन्हें पैसे मिल रहे हैं। वे रोते, हँसते दीख रहे हैं, लेकिन स्वयं में उन्हें न रोने का ग़म है, न हँसने की खुशी है। मानव को इसी प्रकार इस समस्त सांसारिक नाट्यशाला में प्रभु-लीला देखनी थी और प्रशंसा करनी थी। उस नाट्यशाला के नाटक में एक

भूमिका उसकी भी थी, जिसका उसे अनासक्त भाव से उसी प्रकार निर्वाह करना था, जैसेकि किसी फिल्म की शूटिंग के दौरान विभिन्न पात्र करते हैं। परन्तु मायावश, अज्ञानवश या भ्रमवश मानव देह-रूप में मिली उस भूमिका के साथ तद्‌रूप हो गया और उसे ही अपना स्वरूप समझने लगा। मायिक संसार ही जन्मों-जन्मान्तरों में इसे सुखी-दुःखी करता रहा। वह अपने मूल आनन्दस्वरूप, अपनी विशुद्ध **'मैं'** को भूल ही गया।

पृथ्वी पर प्रकृति में असंख्य प्राणी ईश्वर ने बनाए। आकाशमण्डल में विभिन्न नभचर, तारामण्डल, ग्रह, नक्षत्र, जल में विभिन्न जलचर, तरंगें, लहरें, फेन, बुदबुदे आदि बनाए। चन्द्रमा से उन तरंगों व लहरों का सम्बन्ध बनाया, वायु की विभिन्न गतियाँ, गैसें एवं विधाएँ तथा अग्नि में अठारह प्रकार की अग्नियाँ बनाईं और भी बहुत कुछ उसने इन पंच-महाभूतों में और पंच-महाभूतों से बनाया। अन्य समस्त प्राणी-जगत जलचर, नभचर व थलचर सब उस प्रकृति व ईश-लीला का ही भाग हैं, वे इसकी प्रशंसा नहीं कर सकते। वे सहज जड़ हैं, ईश्वरीय संकेतों पर ही चलते हैं। उन्हें न अपना कुछ ज्ञान है और न ही ईश्वर की ही कोई धारणा है। **मानव ही प्रकृति से परे हो सकता है, इसलिए वही प्रकृति का बाध कर उसकी वाह-वाह कर सकता है।** हम मौसम को या किसी अन्य प्राकृतिक विधा को जब अच्छा या बुरा कहते हैं तो उसके साथ तद्‌रूप हो जाते हैं। यदि हम उससे परे हट कर उसे देखेंगे तो प्रकृति की प्रत्येक विधा हमारे लिए आनन्द-दायक ही होगी और हम उस पुरुष की प्रशंसा कर सकेंगे जिसकी यह प्रकृति है। प्रकृति मौसम रूपी विभिन्न परिधान पहनकर रिझाती है, जो स्वयं में प्रशंसनीय है।

मानव को प्रकृति के उल्लंघन का अधिकार प्रभु की ओर से मिला था। प्रकृति के साथ तद्‌रूप होकर कभी आप रोएँगे तो कभी आप हँसेंगे, उसकी प्रशंसा नहीं कर सकेंगे। कभी कहेंगे यह अच्छा हो गया, कभी यह बुरा हो गया। अरे ! खेल में अच्छा-बुरा क्या है। सब खेल है और आनन्द के लिए है। प्रकृति पुरुष के दिशा-निर्देश से बाहर नहीं जा सकती। जैसा वह परम

सत्ता चाहती है, उसी रूप में खेलती है। मानव-देह प्रकृति का ही भाग थी, लेकिन उसे ईश्वर द्वारा प्रकृति का बाध करने का अधिकार दिया गया था। वह कैसे उस प्रकृति से परे होगा, इसकी शक्ति भी उसे प्रभु से ही मिलनी थी। **योगी भी प्रकृति का बाध करता है और भोगी भी प्रकृति का उल्लंघन करता है। योगी स्वयं से जुड़ने, ईश्वर की अनुभूति करने के लिए और भोगी स्वयं से गिरने के लिए प्रकृति का बाध करके भोगों में लिप्त हो जाता है।** यह सम्पूर्ण जगत जिसमें मानव भी है, उस ईश्वरीय शक्ति का बाह्य प्रकाट्य है, जो माया है।

माया ईश्वर की छाया है, जो कभी भी उससे पृथक् हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार हम सभी ईश्वर से जुड़े हुए ही हैं लेकिन इस माया में हमें अज्ञानवश, मूर्खतावश भ्रम हो गया कि मैं अपना अस्तित्व स्वयं हूँ, मैं कर्ता हूँ, मुझे कुछ करके दिखाना है। मानव-देह धारण करके भी जीवात्मा चिन्तित व भयभीत इसलिए हो गया, क्योंकि इसने प्रकृति के इस रहस्य को नहीं समझा और उसके साथ तद्रूप हो गया। प्रभु द्वारा दिए गए कर्म के अधिकार का रूपान्तर कर स्वयं कर्ता बनकर तथाकथित कर्मठ बन बैठा कि मुझे बाल-बच्चों का पालन-पोषण एवं देश व समाज के लिए कुछ करना है। जबकि पशु भी यह नहीं कहता कि मैंने खाने-पीने का प्रबन्ध करना है। प्रकृति द्वारा उसे जो सहज भाव से मिल जाता है उसमें वह आनन्द से रहता है मानव ने यह विचार नहीं किया कि उसे देह के संचालन के लिए कितना कुछ चाहिए और उसकी समस्त भाग-दौड़ देह के लिए और इन्द्रियों के लिए सुख-साधन जुटाने के लिए हो गई। उसने यह भी नहीं सोचा कि वह अपने आनन्द से वंचित होकर पूरे ब्रह्माण्ड के सुख-साधन एकत्रित होने पर भी सुख तो नहीं ले पाएगा। अपनी निरर्थक भाग-दौड़ में वह आनन्द से पूर्णतः वंचित ही हो जाता है, इसलिए भरपूर सुख-साधनों के होते हुए भी विक्षिप्त ही रहता है।

ईश्वर निराकार है और अकाल है। ईश्वर द्वारा निर्मित इतनी परमोत्कृष्ट, विलक्षण, चमत्कारिक मानव-देह ग्रहण करने के बाद भी हम

फँस क्यों गए? हमने सन्तों, महापुरुषों, मनीषियों के श्रीमुख से निःसृत वचनों को बहुत सुना, लेकिन हम फिर भी ज्यों के त्यों वहीं के वहीं क्यों हैं? हमसे भूल कहाँ हुई, यह जानना परमावश्यक है। दुर्भाग्यवश, हमने उस निराकार अकाल-पुरुष द्वारा पाँचों निराकार महाभूतों (पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश) द्वारा निर्मित मानव-देह को जन्म और मृत्यु के दो छोरों में काल-बद्ध कर दिया। जबकि यह स्वयं में निराकार और अकाल से प्रारम्भ हुई है और निराकार व अकाल में ही इसका अन्त होता है। जब माँ के गर्भ में मेरी देह का गर्भाधान हुआ, वह भी एक काल था, जो अकाल था, काल-गणना से परे था। जिसकी आज तक ऐसी कोई विधि नहीं है जिसके द्वारा जाना जा सके कि माँ के गर्भ में शिशु का पदार्पण कब हुआ। तब मेरा रूप निराकार था। खुली आँखों से उसका दर्शन भी असम्भव था, उसके लिए इलैक्ट्रोन माइक्रोस्कोप की आवश्यकता थी। उस समय मेरा रूप आकार से परे, निराकार था और वह रूप सबका एक ही था। इसी प्रकार मृत्यु मानव-देह का तथाकथित अन्त है, क्योंकि मृत्यु के बाद देह की भस्मी बनने का भी एक समय होता है, जो गणना में नहीं आ सकता। उस भस्मी का कोई आकार भी नहीं होता। **इसलिए हमारी देह का अन्त भी अकाल और निराकार होता है।** मैं विशुद्ध भौतिक और दैहिक बातें कर रहा हूँ, **मानव-देह के दोनों मूल छोर आदि और अन्त, अकाल और निराकार हैं।** क्योंकि मानव-देह उस अकाल और निराकार ईश्वर द्वारा निर्मित है। लेकिन हमने अपनी देह के जन्म और मृत्यु, दोनों सकाल और साकार छोरों को पकड़ा और अकाल एवं निराकार छोरों को उपेक्षित कर दिया। कदाचित् हमारे लिए यही सुविधाजनक था, क्योंकि उन अकाल और निराकार छोरों में हमारी बुद्धि काम नहीं करती। इसलिए हमने जन्म और मृत्यु में बँधा हुआ जीवन जिया। **यदि हम अपनी मानव-देह के दिव्य रहस्य पकड़ना चाहते हैं तो हमें जीवन भी जीवन से परे जीना होगा।** आप जन्म और मृत्यु के बीच बँधा जो जीवन जी रहे हैं, वह कोई जीवन नहीं है। आपको अपने स्वरूप का चिन्तन करना होगा कि मेरा प्रारम्भ अकाल और

निराकार है और मेरा अन्त भी अकाल और निराकार में ही होगा।

दिव्यता के प्रकाट्य के लिए यह परमावश्यक है, कि आप जीवन की अवधारणा में परिवर्तन करें और जीवन से परे, आदि से अनादि और अन्त से अनन्त में विस्तृत होकर जीवन जिएँ। इसके लिए तहे-दिल से आपको अनुभूति होनी चाहिए कि **जो होगा वह हो चुका है। आप स्वयं में अकर्ता हो जाएँ। आपके हाथों का उपयोग उन कामों के लिए प्रभु कर रहे हैं जो आपके हाथ में नहीं हैं। प्रभु आपसे वही कराएँगे जो उन्हें मंजूर होगा और वही होगा जो मंजूरे-खुदा होगा।** एक बार तहे-रूह से यदि आप आश्वस्त हो जाएँगे कि प्रभु ही मेरे हाथों से वह सब करवा रहें हैं, जो मेरे हाथ में नहीं है तो आप स्वयं में अकर्ता और खाली हो ही जाएँगे। वास्तव में यही **जीवन से परे जीवन जीना है।** काम वही होंगे, आपका जीवन भी वैसे ही चलेगा, मात्र जीवन की अवधारणा में किंचित् भाव-परिवर्तन अपेक्षित है। इस समस्त सृष्टि के एकमात्र कर्ता प्रभु ही हैं। यह अवधारणा परिपक्व होते ही आपका जीवन, जीवन से परे का जीवन हो जाएगा।

प्रभु ने यह भी अधिकार दिया कि यदि तूने कुछ नहीं करना तो भी तेरे लिए होगा, वह भी मेरी वजह से होगा और यदि तू कर रहा है तो वह भी मैं ही करवा रहा हूँ। इस रहस्य को आत्मसात् कर लेना ही मानवीय कर्म है और यही जीवन से परे जीवन जीना है, इसका मानव को अधिकार है। जिसने इस अधिकार का सेवन कर लिया वही विशुद्ध जीवात्मा का अवतरण है। दिव्यता प्रकट तभी होगी जब समस्त अहं पूर्णतः विगलित हो जाएगा। क्योंकि जब आप स्वयं कर्ता बनेंगे, अपने द्वारा हुए कर्मों के कारण स्वयं बनेंगे, जब आपको देहाध्यास या देहाधिपत्य हो जाएगा तो आपका दिल, दिमाग जो ब्रह्म-चिन्तन के लिए था, ईश्वरीय रहस्यों को पाने के लिए था, वह संसार में घूमने लगेगा। संसार आपके रहने के लिए है। यदि संसार आपमें रहने लग जाए तो आप भवरोगी हो जाएँगे और आधि, व्याधि और उपाधि रोगों से घिर जाएँगे। आप संसार रूपी समुद्र की लहरों का आनन्द लेने के लिए समुद्र में नाव उतारिए, यदि नाव में समुद्र आ जाएगा तो

आपकी नाव डूब जाएगी। **वस्तुतः संसार में जो हो गया है, वही होगा। ईश्वर ने समस्त खेल रचा हुआ है, उसका अंकन हो चुका है,** अब मात्र संसार-महानाट्यशाला के पर्दे पर प्रस्तुति होनी है।

कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में अर्जुन को भी भ्रम हो गया कि मैं युद्ध करूँगा और अपने भाई-बन्धुओं एवं गुरुजनों को मारूँगा। उसे ग्लानि हो गई कि इस प्रकार मिले राज्य को मैं नहीं चाहता और उसने युद्ध करने से इन्कार कर दिया। श्रीकृष्ण ने उसे गीता का उपदेश दिया जो उस अवसादमयी मनःस्थिति में उसके पल्ले बिल्कुल नहीं पड़ा। तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट स्वरूप में प्रत्यक्ष दिखाया कि युद्ध तो मैं कर चुका हूँ, जिन्होंने तेरे हाथों से मारा जाना है, उन्हें मैं मार चुका हूँ। **जो होगा वह वास्तव में हो चुका है।** उसका होना अथवा उसकी मात्र प्रस्तुति संसार-महानाट्यशाला के पर्दे पर होनी है। **श्रीकृष्ण के उस विराट स्वरूप का रहस्य ही यही है, कि जो होगा वह हो गया है और जो हो गया है, वही होगा।**

बुद्धिजीवी यहाँ प्रश्न कर सकते हैं कि जब जो होगा, वह पहले ही हो गया है तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन के साथ इतनी माथा-पच्ची क्यों की कि तू धनुष उठा। वस्तुतः अर्जुन श्रीकृष्ण का विशेष रूप से कृपा-पात्र था क्योंकि युद्ध से पहले ही श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का बोध न होते हुए भी वह श्रीकृष्ण को अपना मन समर्पित कर चुका था। महाभारत के युद्ध के लिए श्रीकृष्ण से सहायता माँगने दुर्योधन और अर्जुन साथ-साथ पहुँचे थे। श्रीकृष्ण ने एक को अपनी चतुरंगिणी सेना तथा दूसरे को स्वयं अकेले अपने को देने का वादा किया और पहले चुनाव का अधिकार अर्जुन को दिया। अर्जुन अपने सखा कृष्ण के प्रति इतने समर्पित थे कि उन्होंने निहत्थे कृष्ण को माँग लिया। **जब हम सद्गुरु के श्रीचरणों में अपना सर्वस्व समर्पित करते हैं तो वह हमारे लिए पक्षपाती हो जाता है।** भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को विजय के साथ यश भी दिलाना चाहते थे। श्रीकृष्ण ने पहले ही समस्त योजना बना ली थी। कहीं वह स्वयं दुर्योधन बनकर खड़े थे, कहीं भीष्म पितामह बनकर खड़े थे, कहीं श्रीकृष्ण ही स्वयं अर्जुन भी बनकर खड़े थे।

श्रीकृष्ण अर्जुन को ख्याति व यश दिलाना चाहते थे और **अपना विराट स्वरूप यह दिग्दर्शित करने के लिए दिखाया कि 'जो होगा, वह हो गया।'** भगवान श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप में भविष्य में होने वाली घटनाएँ देखकर अर्जुन वर्तमान में भयभीत हो गया क्योंकि अर्जुन को अपनी देह के साथ मोह हो गया था, कि मैंने युद्ध करना है, अपने भाई-बन्धुओं को मैंने मारना है।

प्रकृति में होने वाली प्रत्येक गतिविधि का अंकन निराकार में पहले से ही हो चुका है। हमारे सामने मात्र उसकी प्रस्तुति होती है। पंच-प्राणों की शक्ति अनेक-रूपा होकर इस मायिक जगत के रूप में प्रस्तुत होती है। **इसलिए इस मायिक जगत में जो कुछ भी होना है या हो रहा है, वह वस्तुतः हो चुका है, उसकी मात्र प्रस्तुति होती है।** यदि इस मायिक प्रस्तुतिकरण में हम स्वयं कर्ता बन जाएँगे, कारण बन जाएँगे तो अवश्य ही अर्जुन की भाँति भयभीत, तनावित और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाएँगे। तब हम इस सम्पूर्ण प्रकृति का आनन्द कैसे लेंगे, उस परम कर्ता प्रभु की प्रशंसा कैसे करेंगे?

वस्तुतः हम सब उसी में व्यस्त हैं, जो हो चुका है। कभी यह न समझना कि मेरी वजह से मेरा व्यापार, घर, समाज आदि चल रहे हैं। कभी भी किसी **हुए-हुए कर्म** का श्रेय स्वयं नहीं लेना, बल्कि श्रेय दूसरों को देना। **श्रेय लेने और श्रेय देने में बहुत बड़ा अन्तर है।** श्रेय देने में आपके उस कृत्य में, जिसे ईश्वर ने आपके हाथों से करवाया है, जिसमें कि कई हाथ सम्मिलित हैं, तो जितने हाथ उस कृत्य में सहभागी हैं, उन सबकी **'मैं'** आपकी **'मैं'** में समाहित हो जाएगी। अरे ! अपने व्यापारिक संस्थान में काम करने वालों को श्रेय दीजिए कि आपकी वजह से मैं कमा रहा हूँ, अपने ग्राहकों को लूटिए मत, श्रेय दीजिए। क्योंकि कोई कृत्य आपका अपना व्यक्तिगत है ही नहीं। उसमें असंख्य हाथ सहभागी होते हैं। **श्रेय दूसरों को देना स्वयं में एक साधना है। अतः किसी न किसी दिन आपकी 'मैं' को 'तू' भी मिल जाएगा। लेकिन श्रेय स्वयं लेंगे तो आपकी 'मैं' और भी**

संकीर्ण और तुच्छ हो जाएगी। श्रेय लेंगे तो प्रभु ने जो आपसे गलती से करवाया है, उस कृत्य के फल का भोग आप नहीं कर सकते। **'हो गया', 'होगा' और 'हो गया होगा'** इन शब्दों के जाल में हमारा जीवन बीत रहा है। जहाँ हम कहते हैं कि **'हो गया होगा'** यह भ्रम की स्थिति है।

कर्म-बन्धन क्या है? आप जो कर रहे हैं, उस पर अधिकार कर लेते हैं कि मैं कर रहा हूँ, जबकि वह करवाया जा रहा है। जिस दिन यह धारणा आपमें आत्मसात् हो जाएगी, आपको तहे-दिल से यह अनुभूति हो जाएगी कि संसार में जो कुछ हो रहा है या होगा, वह हो चुका है। वह करवाया जा रहा है, तो आप कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाएँगे। आपके द्वारा कर्म होगा लेकिन उन कर्मों में कर्ता-भाव का बन्धन नहीं होगा, क्योंकि आप नश्वर देह से हट कर उस शाश्वत् ईश्वर से जुड़ जाएँगे। **जो करवा रहा है, वह शाश्वत् है और स्वयं को देह मानकर आप जो कर रहे हैं, आप नश्वर हैं। शाश्वत् और नश्वर का परस्पर सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।** यदि आप अपनी दिव्यता का प्रकाट्य चाहते हैं तथा उसकी अपरोक्ष अनुभूति चाहते हैं तो आपको अपनी शाश्वतता का आभास होना परमावश्यक है। जिसके लिए आपको जीवन से परे जीवन जीना होगा, तभी दिव्यता का प्रकटीकरण होगा।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(3 अप्रैल, 2005)

महायोग

संसार में धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण और जो कुछ भी है, वह सब अज्ञान एवं स्वप्नावस्था में ही है। एक ही विशुद्ध जीवात्मा माया में भ्रमित हुआ जन्मों-जन्मान्तरों में विभिन्न कर्म-बन्धनों में भटकता रहता है। कभी पापी, कभी पुण्यी, कभी सुखी, कभी दुःखी होता है, कभी जन्मता है और मरता है तथा कभी पुनः जन्म लेता है। **भ्रूणावस्था, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, मृतकावस्था, भस्मावस्था—ये सभी अवस्थाएँ व देह के समस्त कार्यक्रम अथवा क्रियाकर्म, स्वप्नावस्था में ही हैं।** जीव जन्मों-जन्मान्तरों में इसी में व्यस्त रहते हुए भटकता रहता है। कभी किसी जन्म में जब किसी सन्त महापुरुष की कृपा होती है, तो क्षण-भर के लिए सपना टूटता है। सपना टूटना बहुत बड़ी घटना है और सपना स्थायी रूप से टूटना तो विशेष दैवीय प्रकरण है।

संत-कृपा से कभी क्षणभर के लिए जब स्वप्न टूटता है, जागृति आती है तो स्वप्न की श्रृंखला टूट जाती है और उसके बाद यह आवश्यक नहीं है कि वही स्वप्न दुबारा चले। अतः जितना पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, धर्म-बन्धन, कर्म-बन्धन और जितने भी बन्धन हैं, वे सब स्वप्नावस्था में हैं, क्योंकि हम सब मोह-रात्रि में सुषुप्तावस्था में हैं। यह रात्रि मोह अथवा अज्ञान की है। मोह, देह का है और अज्ञान यही है, कि 'मैं देह हूँ' अथवा 'देह मेरी है'। देहाध्यास एवं देहाधिपत्य ही समस्त मोह एवं अज्ञान का मूल है।

जहाँ पर जीव ने अपनी विस्तृत, विशाल **'मैं'** को देह के साथ तद्‌रूप

कर लिया, कि 'मैं देह हूँ' वहीं से यह 'मोह-निशा' प्रारम्भ हो जाती है। देह पर यह अध्यास व अधिपत्य होते ही जीव को देह से मोह हो जाता है और वह तथाकथित अपनी देह व उस पर आधारित समस्त जगत को 'मैं' और 'मेरा' समझने लगता है। वहीं पर जीव को तीन रोग तुरन्त घेर लेते हैं—आधि, व्याधि व उपाधि (इनकी विस्तृत चर्चा मैं **'सिद्धि'** विषयक प्रवचनों में कर चुका हूँ), साथ ही अतीत के शोक एवं भविष्य की चिन्ताओं रूपी भूत-पिशाचों का परिवार भी इसे कष्ट देने लगता है। **जो कुछ भी देह के साथ है अथवा देह के द्वारा होता है, उसे जीव स्वयं अपने साथ हुआ और अपने द्वारा किया हुआ मानने लगता है।** जीव के इस भ्रम को दूर करने के लिए और इसे ब्रह्ममय चिन्तन से सम्पृक्त करने के लिए वह पार-ब्रह्म-परमेश्वर स्वयं साकार देह धारण करके सद्गुरु के रूप में प्रकट हो जाता है। किसी भूले-भटके विरले जिज्ञासु की मोह-निशा के स्वप्न में वह निराकार सत्ता कोई नाम-रूप धारण कर, सद्गुरु के रूप में प्रकट होती है। वह जीव सद्गुरु का शरणागत होकर पुकारता है, कि प्रभु ! मैं भ्रमवश भटक रहा हूँ। वह नाम-रूप धारी सद्गुरु जीव को पुरुषार्थ कर्म व जप-तप आदि मार्ग बताता है। उस मार्ग पर चलते-चलते जब जीव थक कर, चक्कर खाकर, मूर्छित होकर ढह जाता है और स्वयं में अशक्त व निरुपाय हो, अपनी असमर्थता की घोषणा करते हुए प्रभु को पाने की आस छोड़ देता है तो वही नाम-रूप धारी सद्गुरु अपने निराकार शिव-स्वरूप में प्रकट होकर उसे वहीं मंज़िल दिखा देता है। (अपने **'दिव्यता भाग–1'** नामक प्रवचन में मैंने इसका सविस्तार वर्णन किया है)।

सद्गुरु सद्शिष्य को आश्वासन देता है कि बेटा ! तुम मंज़िल पर ही हो, तुम विशुद्ध जीवात्मा हो तथा उस सच्चिदानंद के ही अंश हो। तब क्षणभर को जीव मोह-निशा से जाग्रत हो जाता है तथा उसकी स्वप्न-श्रृंखला टूटने लगती है। **अतः समस्त धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, जन्म-मृत्यु, बन्धन, भय, विक्षेप व त्रास आदि स्वप्न-सृष्टि में ही हैं। जब जागृति होगी तो वहाँ जागृति में आपको अपने नाम-रूप से ही अपने**

विशुद्ध स्वरूप का दिग्दर्शन हो जाएगा। जैसेकि पहले आपको सद्‌गुरु भी नाम-रूप में मिला था और आपने उसे नाम-रूप में मानकर उसके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दिया था, लेकिन जब आपका अपना अहं, अपना किया हुआ समस्त पुरुषार्थ कर्म विस्मृत हो गया और आप स्वयं में अशक्त, असमर्थ हो कर ढह गए तो वही सद्‌गुरु अपने शिव-स्वरूप में प्रकट हुआ। सद्‌गुरु ने कहा—'उत्तिष्ठ ! जाग्रत, तुम वहीं हो', **जिसने मार्ग बताया था वह सद्‌गुरु का रूप था और जिसने कहा कि चलने का तो मार्ग ही नहीं है, तुम मंज़िल पर ही हो, वह सद्‌गुरु का स्वरूप होता है। इस प्रकार सद्‌गुरु के निराकार स्वरूप की अनुभूति जीव के अपने विशुद्ध, निराकार, ईश्वरीय, अविनाशी स्वरूप की अनुभूति बन जाती है।** यह समानान्तर एवं साथ-साथ ही होता है। अपने नाम-रूप के स्वरूप की झलक भी सद्‌गुरु के निराकार स्वरूप की अनुभूति के साथ मिलती है। तब अपनी विशुद्ध **'मैं'** का बोध होता है कि **'मैं'** कौन हूँ। नहीं तो हम देह के नाम-रूप को ही **'मैं'** समझते रहते हैं। इसे ही मोह-निद्रा कहा है। क्योंकि इसमें देह के साथ तद्‌रूप होने के कारण विशुद्ध **'मैं'** सोई रहती है। **'मैं'** स्वप्न की देह के रूप में स्वप्न-सृष्टि में सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, जन्म-मृत्यु, रोग-दोष, वैर-वैमनस्य, राग-द्वेष, यश-अपयश और न जाने किस-किस में भटकती रहती है। इस मोह-निद्रा से जागृति कैसे हो, मुझे मेरी विशुद्ध **'मैं'** की अनुभूति कैसे हो?

सुषुप्ति-योग, मृत्यु योग और भस्मी-योग तीन महायोग हैं। यदि इन्हें हम अपनी जागृति में आत्मसात् कर लें तो हमें क्रमशः अपनी परम जागृति, अमरत्व व शिवत्व की अनुभूति हो जाएगी। हमारा विशुद्ध स्वरूप, विशुद्ध चेतना, जो नाम-रूप की चेतनता से परे है, जो हमारी **'मैं'** अथवा जीवत्व है, उसकी अनुभूति के लिए हमें देह की इन तीन स्थितियों से अपनी जागृति में आत्मसात् होना ही पड़ेगा। यदि हमें अपनी विशुद्ध **'मैं'** को खोजना है तो देह के रूप में जाग्रत होकर अपनी इन तीन अवस्थाओं पर विचार, चिन्तन व मनन करना ही होगा। जिन सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति

के विषय में हम चिन्तन करते हैं, उनकी प्राप्ति हमारी कल्पना हो सकती है। लेकिन ये तीनों अवस्थाएँ तो हमारी देह की निश्चित यथार्थ अवस्थाएँ हैं, जो अवश्य आएँगी। हम देह व देह पर आधारित जगत से सम्बन्धित अनेक छोटी-छोटी प्राप्तियों के लक्ष्य बनाए रहते हैं, उनके लिए भागते रहते हैं। उन प्राप्तियों की सुनिश्चितता व कोई सीमा नहीं है। एक लक्ष्य पूरा होता है, दूसरा खड़ा हो जाता है और एक ही समय में हम कई लक्ष्य भी बनाए रहते हैं। उनकी प्राप्ति के लिए भाग-दौड़ की भी कोई सीमा नहीं है। धन, सन्तान, पद, प्रौपर्टी, धर्म, कर्म, यश, नाम आदि के सम्बन्ध में जो हम प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी कल्पना कर सकते हैं, कि मानों वह लक्ष्य यदि प्राप्त हो गया तो फिर क्या? **आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने के लिए आवश्यक है, कि भौतिक जीवन में हम पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाएँ।**

हम देह व देह पर आधारित जगत के लिए अपना बहुमूल्य समय व्यर्थ क्यों करें? सहज ही स्वतः भाव से कुछ प्राप्त हो जाए तो ठीक है, नहीं तो कोई बात नहीं। यदि कोई प्राप्ति बहुत आवश्यक हो तो हम उसकी प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी करते हैं, लेकिन अधिकतर हमारी भौतिक भाग-दौड़ अनावश्यक ही होती है। विशेषकर जो कार्य हमारे बिना भी हो सकते हैं, उनमें हमारी भाग-दौड़ अनावश्यक ही होती है। एक होता है आनन्द में कार्य होना, दूसरा है किसी कार्य के लिए विपरीत परिस्थितियों में संघर्षरत रहना। हम विचार करें कि जो कार्य हमारे बिना भी हो सकते हैं, उनके लिए हम स्वयं को क्यों दौड़ाएँ? लेकिन हम अपने जीवन का अधिकांश भाग उन्हीं कार्यों के लिए भागते-दौड़ते निरर्थक बरबाद कर देते हैं। उन कृत्यों के बाद प्राप्ति भी यदि होती है, जो वैसे भी होनी ही थी, उसका हम स्वयं भोग नहीं कर पाते तथा आनन्द का तो प्रश्न ही नहीं होता क्योंकि हमें अपने कृत्यों का अहं हो जाता है।

आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश के लिए हमें जीवन का यथार्थ ग्रहण करना होता है। यदि मैंने देह को **'मैं'** मान लिया है तो देह को दृष्टि में रखकर मैं अपनी देह की अवस्थाओं का विश्लेषण करूँ। यह देह अपने

नाम-रूप की प्रतीति में होती है, तभी मुझे साथ रखती है, नहीं तो नहीं रखती। देह की कई अवस्थाएँ हैं, जिनमें यह मुझे नहीं पहचानती, जैसेकि मैं नहीं कह पाता कि मैं भ्रूणावस्था में हूँ, मैं पैदा हो रहा हूँ, मैं बाल्यावस्था में हूँ, मैं मूर्च्छित हूँ, मैं विस्मृति की अवस्था में हूँ, मैं सोया हुआ हूँ, मैं मर गया हूँ और मैं भस्मित हो गया हूँ। हम इनमें से मुख्य तीन अवस्थाओं को लें। **सुषुप्ति, मृत्यु और भस्मी।** ये तीनों देह की यथार्थ अवस्थाएँ हैं। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा जो कभी सोया न हो, जो कभी न मरे और मरने के बाद जिसकी ख़ाक या भस्मी न बने। इन तीन अवस्थाओं में जब हमारी देह होती है, तो हम इन अवस्थाओं पर विचार नहीं कर सकते, क्योंकि उस समय यह देह **'मैं'** को छोड़ देती है।

''मैं' और देह' शीर्षक प्रवचनों में मैंने कहा था कि अपनी जागृति में सुषुप्तावस्था की मानसिक स्थिति पर एकाग्र करने में, जीव की विशुद्ध **'मैं'** जाग्रत हो जाएगी। मृतकावस्था तथा भस्मावस्था पर एकाग्र करने में क्रमशः अमरत्व व शिवत्व जाग्रत हो जाएगा। लेकिन इन तीनों स्थितियों में व्यावहारिक रूप से प्रविष्टि कैसे हो? ये तीनों तो **महायोग** हैं। वस्तुतः ये सब कर्म-साध्य नहीं कृपा-साध्य हैं। **सुषुप्तियोग, मृत्युयोग और भस्मीयोग** के विषय में आज हम इष्ट-कृपा से वर्णन करेंगे। यह समस्त अनुभूतिगत विषय **श्रुति** का है। आपकी अति श्रद्धा एवं एकाग्रता वांछनीय है। आध्यात्मिक जगत कल्पनाओं का क्षेत्र नहीं है। यहाँ यथार्थ और मात्र यथार्थ ही है। मेरी सुषुप्ति, मृत्यु और भस्मी भी कोई कल्पना नहीं है।

सुषुप्ति मेरे दैनिक जीवन की परम आवश्यक घटना है। रात को सभी सोते हैं, पशु भी सोते हैं। हमारी और उनकी निद्रा में कोई अन्तर नहीं होता। वे भी थक कर सोते हैं और उठकर हमारी ही तरह अपनी हैसियत के मुताबिक कुछ न कुछ करते रहते हैं। फिर रात को सो जाते हैं। **देह के सोने में 'मैं' भी सो जाती है, इसलिए निद्रा जड़ता है,** जहाँ नाम-रूप के साथ मुझे अपनी चेतना भी नहीं होती। लेकिन योगी स्वयं जागता है और देह को सुला देता है। इस अवस्था में वह नाम-रूप की चेतना से परे अपनी विशुद्ध

'मैं' अथवा विशुद्ध चेतनता की अनुभूति करता है। इसे **सुषुप्ति-योग** अथवा **निद्रा-योग** कहा है। **यदि मैं जागूँ और देह सो जाए तो वह समाधि है।** शास्त्रकारों ने 21 प्रकार की समाधियाँ बताई हैं। मैं अपने नाम-रूप की चेतनता अथवा इस तथाकथित जाग्रतावस्था में ध्यान करूँ, विचार, चिन्तन व मनन करूँ कि मैं सोया हुआ हूँ। मेरी देह सुषुप्त न हो लेकिन मेरी मानसिक स्थिति वैसी बन जाए जैसीकि देह की सुषुप्तावस्था के समय थी। मैं जब वास्तव में सोता हूँ तो यह विचार नहीं कर सकता। यद्यपि जागकर मैं जो विचार कर रहा हूँ, अपनी देह के साथ हूँ, लेकिन मैंने देह से हटकर देह को सुला दिया है और मैं उस स्थिति पर विचार कर रहा हूँ। कृपया एकाग्र करिए।

सुषुप्ति में मेरा सम्बन्धी कौन है? धर्म, कर्म तथा कर्तव्य क्या हैं? मैं यदि डॉ. शिव कुमार हूँ तो यदि कोई रोगी मेरी सुषुप्ति के समय आ जाए तो मैं उसका इलाज तो नहीं कर सकता। सोया हुआ मैं अपनी प्रतिभाओं का कुछ भी प्रयोग नहीं कर सकता। मान लो, अगर मुझे स्वयं कोई दैहिक कष्ट था, पर सोए हुए तो वह कष्ट भी नहीं है। सोए हुए को किसी से कुछ लेना-देना नहीं है। सोए हुए किसी का भी भय नहीं है, न किसी चोर का खतरा है और न ही अपनी जान चले जाने का डर है, कि कहीं कोई मुझे मार न दे, मैं कहीं मर न जाऊँ। क्योंकि सोते हुए मुझे अपने नाम-रूप की कोई चेतनता नहीं होती।

यह मैं जो सोया हुआ हूँ, उसका किसी से कोई राग, द्वेष, ईर्ष्या, वैर, वैमनस्य कुछ नहीं है। यह **'मैं'** सोए हुए की यथार्थ स्थिति है, कोई कल्पना नहीं है। इस समय मैं अपने जिस स्वरूप में हूँ, वह एक मानसिक स्थिति है, जिसमें नाम-रूप की प्रतीति की देह और उस पर आधारित जगत का कोई व्यवहार एवं मर्यादा नहीं है। यदि मैं जागृति में अपनी वह मानसिक स्थिति विकसित कर लूँ तो मेरी विशुद्ध **'मैं'** जाग्रत हो जाएगी। ये सब जीवात्मा के गुण हैं कि सोया हुआ **'मैं'** देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, कर्तव्यातीत, लिंगातीत, मायातीत, अभय, आरोग्य है तथा वैर,

वैमनस्य, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि से परे है। लेकिन सुषुप्तावस्था में यह देह ईश्वर व आनन्द से भी विमुख है। यदि मैं किसी भी प्रकार से जागृति में अपनी यह मानसिक स्थिति बना लूँ तो मैं स्वतः ही ईश्वर व आनन्द के सम्मुख हो जाऊँगा। इस मानसिक स्थिति का चिन्तन करने से आपको निद्रा का ज्ञान हो जाएगा। उस मानसिक स्थिति का आपको इतना आकर्षण हो जाएगा कि आप पुनः पुनः उसी स्थिति में विचरण करना चाहेंगे। जाग्रतावस्था में निद्रा की मानसिक स्थिति में आपकी देह के सारे बन्धन स्वतः दूर हो जाएँगे और आप अपने आनन्द-स्वरूप के सम्मुख होंगे। निद्रा के समय जीव ईश्वर-विमुख होता है, इसलिए निद्रा जड़ता है। जागृति में ईश्वर-सम्मुख होकर उस मानसिक स्थिति में प्रवेश करने पर अपनी विशुद्ध **'मैं'** (जीवात्मा) की अनुभूति हो जाएगी। **इस स्थिति में जब आप समाधिस्थ होते हैं, तो आपका विवेक जाग्रत होता है और आप स्वयं से पूछते हैं कि 'मैं कौन हूँ?'** जब तक देह के नाम-रूप की चेतना से परे इस **'मैं'** की जागृति नहीं होगी, तब तक 'मैं कौन हूँ' यह प्रश्न ही निःसार होगा। इस विशुद्ध **'मैं'** की जागृति के साथ ही विवेक जाग्रत होगा कि 'मैं देह तो नहीं हूँ, फिर मैं कौन हूँ?' **इस विशुद्ध 'मैं' की जागृति वास्तव में देह की सुषुप्ति में है। नहीं तो देह को ही 'मैं' मानकर हम जन्म और मृत्यु के दो छोरों में जन्म-दर-जन्म भटकते रहते हैं।**

इसी प्रकार जब हम जीवित हों, जाग्रत हों तो अपनी मृत्यु-स्थिति को अनुभव करें, जिस प्रकार हमने अपनी जागृति में निद्रा की मानसिक अवस्था का साक्षात्कार किया था। हम अपनी देह की भस्मी देखें। उस समय हम मात्र भाव-देह में होंगे, हमारी यह देह समाप्त हो जाएगी। यदि हममें भविष्य में उतरने की प्रतिभा न हो तो जीवन ही नहीं चल सकता। छोटे-छोटे भविष्यों के उस जीवन में हम अपना वास्तविक लक्ष्य भूल जाते हैं। हम चलते ही रहते हैं, अन्ततः भविष्य की आसक्ति में ही देह हमें छोड़ देती है। हमारा जीवन भविष्य की आसक्तियों में ही चलता रहता है। क्यों न हम ऐसा भविष्य खड़ा कर दें, जिससे जीवन स्थिर हो जाए। **जीवन की स्थिरता**

जीवन की समाप्ति नहीं है, क्योंकि जब जीवन समाप्त होता है तो हम नहीं रहते और हम नहीं रहते तो हमें जीवन का लक्ष्य पता ही नहीं चलता। अतः छोटे-छोटे लक्ष्यों एवं भविष्यों के लिए भागते जीवन के सम्मुख ऐसा लक्ष्य खड़ा कर दें जिससे जीवन खड़ा हो जाए, हम खड़े हो जाएँ और चिन्तन करें कि क्या कर रहा हूँ, किसलिए भाग रहा हूँ, कब तक भागूँगा, जो प्राप्त करने के लिए भाग रहा हूँ वह मिल भी जाए तो क्या हो जाएगा? उसके लिए अपने अन्तिम निश्चित परिलक्षित भविष्य, मृत्यु अथवा भस्मी की मानसिक स्थिति को अपने सामने आत्मसात् करना होगा।

जो अवस्था होनी ही है, उसे मैंने अभी वर्तमान में धारण कर लिया है। मैं वह समय नहीं जानता जब मृत्यु होगी और मेरी भस्मी बनेगी। जब अपने जीते जी मैं अपनी मृतक देह अथवा अपनी देह की भस्मी के साथ आत्मसात् होऊँगा तो वहाँ पर मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं होगा। क्योंकि मेरा समस्त संसार मेरे नाम-रूप की उस देह पर ही आधारित था, जो नहीं रही। मैं भाव-देह में रहूँगा और मेरे नाम-रूप की देह के स्तम्भ पर टिकी हुई समस्त सृष्टि ढह जाएगी। जब किसी का कोई प्रिय स्वजन अपनी देह व दुनिया छोड़ जाता है तो हर व्यक्ति अपने निजी प्रिय सम्बन्धी को ढूँढता है जो उसे सान्त्वना दे सके। कितने ही हमारे प्रिय स्वजन हमारे ही सामने दुनिया छोड़ जाते हैं, तो आखिर तक हम सान्त्वना देने वालों को ढूँढते रहते हैं और जाने वाले का दुःख करते रहते हैं। यह सिलसिला चला आ रहा है। वास्तव में जब मैं मरूँगा और मेरी देह जाएगी, उस समय मैं नहीं हूँगा, लेकिन मेरे सम्बन्धी व प्रिय स्वजन मेरे लिए शोकग्रस्त होंगे और परस्पर एक दूसरे को सान्त्वना देंगे। लेकिन जीते जी ध्यान में **'मैं'** जब अपनी मृतक देह को देखता हूँ और मेरे सामने जब मेरी देह मुझे छोड़कर जाती है, तो मेरे पास मुझे सान्त्वना देने वाला कोई नहीं रहता। मेरे सारे दैनिक कार्यक्रम समाप्त हो जाते हैं। यह अनुभूति का विषय है।

जब आप स्वयं अपनी देह को मृतक और भस्मित हुआ देखते हैं तो आपको वह देह याद आती है। वह देह जो आपके समस्त संसार का आधार

थी, जब वही नहीं रही तो आपका कौन रहा? सारे सम्बन्ध, रिश्ते-नाते और दुनिया का व्यवहार देह के ही साथ था। उस समय आपको अपना इष्ट याद आता है, कि "हे महाप्रभु! आकर तुम मुझे सान्त्वना दो, मेरा तो सब कुछ खो गया है।" जब आपके सामने आपकी देह चली जाए, भस्मित हो जाए और आप अपनी ही देह के लिए रोने लगें, क्योंकि आपकी देह का पिण्ड-दान करने वाला कोई नहीं होता। आप होते हैं लेकिन विदेह होते हैं, भाव-देह में होते हैं। आपका सारा ब्रह्माण्ड जिस देह पर आधारित होता है, वह चली जाती है। यह **'मृत्यु-योग' की पराकाष्ठा है, जब आपको अपनी देह के लिए रोना आने लगे।** तो मात्र आपके इष्ट ही होते हैं जो आपकी देह का पिण्ड-दान करते हैं, क्योंकि परमात्मा के अतिरिक्त आपका प्रिय सम्बन्धी कोई नहीं रहता। आपके सामने आपकी भस्मी को गंगा में प्रवाहित करने वाला आपके इष्ट के अतिरिक्त कोई नहीं होता।

जीवात्मा की इस समय जो वेदना है, वह अनिर्वचनीय होती है। वह तड़प बहुत भयानक होती है। उस समय प्रभु आपको सान्त्वना देते हैं। उस समय आप आनन्द लेने वाली अपनी दिनचर्या के लिए तड़पते हैं, जो सदेह आप किया करते थे। दुनिया के लिए तो बहुत रोये हैं, लेकिन कभी अपने लिए भी दो आँसू बहाकर देखिए कि उन आँसुओं में आपको क्या मिलता है। क्योंकि जब आपकी देह जाएगी, आपका सब कुछ चला जाएगा। न दुकान, न मकान, न पद, न प्रौपर्टी, न देश, न विदेश, न नाम, न सम्बन्धी। आपके साथ अफसोस करने वाला कोई नहीं रहेगा। आप होंगे और यदि कोई अन्य होगा तो वह आपका इष्ट ही होगा। उस सर्वशक्तिमान परमात्मा से आप अपना दुःख कहते हैं, कि प्रभु! यह सब माया थी, ठीक है लेकिन इस समय मैं विदीर्ण हूँ। मेरी देह गई उस पर दुःख करने वाला कोई नहीं है। **इस समय विशुद्ध जीवात्मा आपकी 'मैं' जाग्रत हो जाती है।** आप प्रभु से अति **दिव्य-देह** माँगते हैं और इस प्रकार कालान्तर में आपको दिव्य-देह मिल जाती है।

मृत्यु-योग के प्रकरण के बाद जब आप जाग्रत होते हैं, आपकी समाधि

व तन्द्रा भंग होती है तो आपकी देह सुगन्धित व दिव्य हो जाती है। क्योंकि प्रारब्ध वाली आपकी देह जो पहले धर्मों, कर्मों, काल, सम्बन्धों, रोगों, दोषों और माया के गुणों में बँधी थी, उसका पिण्ड-दान प्रभु स्वयं कर चुके हैं। आपको जो दिव्य-देह मिली है, वह ईश्वर से मोह लिए हुए होती है। उसके बाद आपको ईश्वर के ध्यान, चिन्तन, मनन व भजन के अतिरिक्त और कुछ अच्छा लगता ही नहीं। वह देह हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता, मस्ती, कृपा एवं आनन्द से परिपूरित होती है। ईश्वर आपको दिव्य-देह देकर अमरत्व प्रदान कर देते हैं। आप कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। आपको अमरत्व का वरदान मिलता है। अरे ! दुनिया के लोगों ने सान्त्वना क्या देनी है वे तो स्वयं भयभीत हैं, त्रसित हैं, मरण-धर्मा हैं। जब आपको स्वयं प्रभु आपकी अपनी ही देह चले जाने पर सान्त्वना दें, तो प्रभु सर्वसमर्थ हैं, वे आपको दिव्य-देह से विभूषित कर देते हैं।

आप ध्यान से उठने के बाद वह नहीं रहते जो पहले थे। क्योंकि ईश्वर ने आपको सान्त्वना दी है। **वहीं जीवात्मा अमरत्व को प्राप्त हो जाएगी। जीते जी आपको निर्वाण मिल जाएगा, आप मृत्युंजय हो जाएँगे। आपको प्रकट अथवा अप्रकट रूप से अविरल नाम-जाप का वरदान भी मिल जाएगा। इसलिए सुषुप्तियोग, मृत्युयोग और भस्मीयोग महायोग हैं।** सुषुप्ति, मृत्यु और भस्मी की अवस्थाओं में वास्तव में जब मैं होता हूँ तो यद्यपि समस्त ईश्वरीय गुण मुझमें होते हैं, लेकिन एक महा अवगुण होता है, कि देह 'मैं' को छोड़ देती है, क्योंकि देह ईश्वर-विमुख होती है।

देह के रूप में मैं सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था व भस्मावस्था में उसी प्रकार जड़ और ईश्वर-विमुख होता हूँ जैसेकि कोई पत्थर, शिला, लकड़ी अथवा वृक्ष आदि होते हैं। अब पत्थर, शिला और वृक्ष आदि भी स्वयं में देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, धर्मातीत, लिंगातीत व मायातीत होते हैं, जोकि ईश्वरीय गुण हैं। पृथ्वी, अग्नि, जल, आकाश व वायु आदि भी इसी प्रकार सहज जड़ हैं, स्वयं में इनका कोई धर्म, कर्म, कर्तव्य, लिंग, देश, काल, सम्बन्ध आदि नहीं होता, लेकिन ये

ईश्वर-विमुख भी हैं। यही स्थिति देह के रूप में मेरी होती है जब मैं सुषुप्त होता हूँ, मृतक होता हूँ और भस्मी बन जाता हूँ। मेरी ये अवस्थाएँ जड़ ही नहीं हैं, सहज जड़ हैं, क्योंकि इनमें ईश्वर से विमुखता भी है।

अतः सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था अथवा भस्मावस्था में देह जिस स्थिति में होती है, उसमें ईश्वर-विमुखता ही बहुत बड़ा दोष है। अतः मैं देह की जाग्रतावस्था में ईश्वर-सम्मुख होकर मानसिक अवस्था वैसी बना लूँ जैसीकि देह की सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था या भस्मावस्था में होती है। मेरा मानस ऐसा हो जाए जैसाकि इन अवस्थाओं में देह का होता है और मैं ईश्वर के सम्मुख भी हो जाऊँ। **वस्तुतः जागृति में इन अवस्थाओं की मानसिक स्थिति सम्भव ही तभी है जब मैं ईश्वर-सम्मुख होऊँगा, नहीं तो असम्भव है।**

यह जो मैं अपनी सुषुप्त देह, मृतक देह अथवा भस्मित देह पर एकाग्र कर रहा हूँ, देखता हूँ कि तीनों में ईश्वर-सम्मुखता नहीं है। इसलिए ये तीनों मेरी सहज जड़ स्थितियाँ हैं और इसलिए देह इन तीनों स्थितियों में **'मैं'** को छोड़ देती है। मैं नहीं कह पाता कि मैं सो रहा हूँ, मैं मृतक हूँ अथवा मैं भस्मी हूँ। इन तीनों स्थितियों में सद्, चेतन व आनन्द नहीं है, क्योंकि **'देह'** सद्, चेतन और आनन्द के विमुख है। **यदि इन अवस्थाओं में देह ईश्वर-सम्मुख हो जाए तो यह देह ही ईश्वर-तुल्य हो जाएगी।** ईश्वर-विमुखता में आनन्द तो आ ही नहीं सकता। इसलिए शेष समस्त ईश्वरीय गुण होते हुए भी यह एक महा अवगुण सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था एवं भस्मावस्था में है। देह के रूप में जाग्रत **'मैं'** जब अपनी देह की इन अवस्थाओं पर विचार करती है तो इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि यदि जागृति में सच्चिदानंद के सम्मुख हो जाऊँ तभी मेरी यह मानसिक स्थिति बन सकती है, जैसीकि सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था एवं भस्मावस्था में होती है। इसके अतिरिक्त हो ही नहीं सकती। मैं क्यों नहीं कह सकता कि मैं सो रहा हूँ, मैं मृतक हूँ अथवा मैं भस्मी हूँ, क्योंकि देह जब इन तीनों अवस्थाओं में होती है तो ईश्वर-विमुख एवं सहज जड़ होने के कारण **'मैं'** को छोड़ देती है। **इसलिए 'मैं' ईश्वर**

सम्मुख है। विशुद्ध 'मैं' सच्चिदानन्द है। यदि जागृति में मैं ईश्वर विमुख होता हूँ तो होता यह है, कि तब भी मैं सहज जड़ ही होता हूँ, लेकिन जो मेरे तथाकथित कार्यकलाप हैं, वे सब ईश्वर-विमुखता में देह के अहं से ही होते हैं। इसीलिए उन कार्यों से दुःखी होकर मैं सोना चाहता हूँ। मैं थका ही इसलिए क्योंकि ईश्वर के विमुख था और सोकर पुनः उठना चाहता हूँ क्योंकि मैं अपनी आनन्दमयी **'मैं'** की तलाश कर रहा हूँ, जो सच्चिदानन्द है। सोकर देह सुखी हो गई। उसे कुछ देर के लिए धर्मों, कर्मों, कर्तव्यों, सम्बन्धों आदि से मुक्ति मिल गई, लेकिन **'मैं'** नहीं मिली जो सच्चिदानन्द के सम्मुख भी थी। सोकर उठा तो जो **'मैं'** मिली वह देह वाली मैं मिली जिसने फिर थकाया, दौड़ाया। कर्मों, सम्बन्धों, कर्तव्यों, धर्मों, देशकाल व समाज आदि में उलझाया। इसलिए मैं फिर थकता हूँ और सोता हूँ और फिर स्वप्न देखता हूँ।

ये जो मेरी दैहिक अवस्थाएँ हैं, वे कुछ खोज रही हैं, इसलिए मैं उन अवस्थाओं में भटकता-भटकता मरता हूँ, भस्मी बनता हूँ, फिर पैदा होता हूँ और इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तरों के काल-चक्र में विक्षिप्त-सा भ्रमित हुआ उस आनन्दमयी 'मैं' की तलाश करता रहता हूँ। **'मैं'** विचार करती है, कि मेरी देह सो रही है, इसमें समस्त ईश्वरीय गुण आ गए हैं, लेकिन यह पुनः उठना चाहती है, क्योंकि यह सच्चिदानन्द से विमुख है। इसे आनन्द नहीं मिल रहा। निद्रा से तथाकथित जागकर यह इन्द्रियों के सुखों में उस आनन्द को ढूँढती है, जिन इन्द्रियों के सुखों को छोड़कर यह देह सोई थी, फिर उन्हीं सुखों में लिप्त हो जाती है। मैं उस आनन्दमयी **'मैं'** को इन्द्रियों के सुखों में ढूँढना चाहता हूँ, जो नहीं मिल पाती। **सुख मिलता है, दुःख मिलता है लेकिन आनन्द नहीं मिलता—न सोकर, न जागकर और न ही स्वप्न में। जब सोकर, जागकर, स्वप्न में वह आनन्द नहीं मिलता तो मैं मर जाता हूँ।** लेकिन सुषुप्तावस्था की ही तरह मृतकावस्था और भस्मावस्था भी ईश्वर-विमुख ही है। अतः **'मैं'** जाग्रत अवस्था में विचार करती है, कि इन तीनों अवस्थाओं में देह की स्थिति बहुत अच्छी होती है, लेकिन एक अवगुण

होता है और वह है– **ईश्वर-विमुखता**। जागृति में यदि मैं अपनी वह स्थिति बनाना चाहता हूँ कि मैं देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, धर्मातीत, लिंगातीत व मायातीत हूँ तो मात्र मुझे ईश्वर-सम्मुख ही रहना पड़ेगा। ईश्वर-सम्मुखता के बिना मेरी यह स्थिति हो ही नहीं सकती।

यदि मेरा ईश्वर-सम्मुख स्वरूप जाग्रत हो जाए तो देह सुषुप्त हो जाएगी अर्थात् इसकी भाग-दौड़ बन्द हो जाएगी। उस वक्त **'मैं'** ईश्वर-सम्मुख होगी और देह-द्वारा 'देह के लिए' अथवा 'देह काहे के लिए' होने वाले समस्त कार्य ईश्वर द्वारा ही प्रेरित, कार्यान्वित एवं समाप्त होंगे। ईश्वरीय कार्य आनन्द में प्रारम्भ होंगे, आनन्द में चलेंगे और आनन्द में ही समाप्त होंगे और उन कार्यों का कर्म-फल भी आनन्द ही होगा। क्योंकि मेरी विशुद्ध **'मैं'** तो सच्चिदानंद ही है, ईश्वर का अंश है। जब मैं पूर्णतः ईश्वर के सम्मुख हो जाऊँगा तो मेरी वह **'मैं'** जाग्रत हो जाएगी और देह सो जाएगी। **'मैं'** अमर है। जब तथाकथित जागृति में 'मैं' ईश्वर-सम्मुख होकर देह को मृतक देखूँगा तो मेरा अमरत्व-स्वरूप जाग्रत हो जाएगा और मेधा एवं प्रज्ञा दोनों दिव्य बुद्धियाँ प्रद्दीप्त हो जाएँगी। जब देह वास्तव में मृतक होगी तो **'मैं'** को छोड़ देगी। यदि 'मैं' अपनी वास्तविक सच्चिदानन्द स्थिति में आ जाऊँ तो देह तो मृतकप्रायः ही है। जब **'मैं'** शिवत्व की स्थिति में आ जाऊँ तो देह मेरे लिए मात्र भस्मी है। **''भस्मांगरागाय नमः शिवाय''** और तभी मेरी विशुद्धतम बुद्धि ऋतम्भरा भी जाग्रत हो जाती है, जो ईश्वरीय रहस्यों को आत्मसात् कर सकती है। तभी सद्गुरु अपने शिव-स्वरूप में प्रकट होकर मुझे मेरे अपने विशुद्धतम सच्चिदानंद स्वरूप की अनुभूति प्रदान कर देता है।

जब मैं ईश्वर-सम्मुख ही हो जाऊँगा तो वह स्थिति ही आएगी। तब मैं भाग-दौड़ क्यों करूँगा। मैं पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ दोनों से मुक्त हो जाऊँगा, क्योंकि देह ईश्वर की है, **'मैं'** ईश्वर का हूँ। तो देह से वह जो कराएगा वह सब शुभ ही शुभ, आनन्द ही आनन्द होगा। आप अकर्ता हो जाएँगे, खाली हो

जाएँगे। एक अबोध बच्चे की तरह ईश्वर की गोद में खेलेंगे। एक अबोध शिशु ने यह नहीं कहना कि मुझे अमुक खिलौना लाकर दो। आपने उसे जो दे दिया वह उसी से प्रसन्न हो जाता है। हर दिन का कार्यक्रम ईश्वर ही आपके लिए निश्चित करेगा। यदि आपके अपने कार्यक्रम होंगे तो आपकी विशुद्ध **'मैं'** से रहित कार्यक्रम होंगे वे आपको भगाएँगे और उनमें आप फँस जाएँगे। सुषुप्ति, स्वप्नावस्था, जागृति, मृत्यु और भस्मी **'मैं'** से रहित इसलिए हैं, क्योंकि इन सबमें ईश्वर-विमुखता है। यदि ये **'मैं'** सहित हो जाएँ? वह तभी होगा जब मेरी विशुद्ध **'मैं'** जाग्रत हो जाएः–

''सच्चिदानन्दोऽहम्, शिवोऽहम् शिवोऽहम्''

इन तीनों दैहिक अवस्थाओं में आपका अपना चुनाव है, कि कौन सी स्थिति के साथ आप स्वयं को आत्मसात् करते हैं–सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था अथवा भस्मावस्था। सुषुप्तावस्था एवं मृतकावस्था दोनों में नाम-रूप वाली देह साथ रहेगी। अतः भस्मी से आत्मसात् होकर ही आपको शाश्वत् चिरन्तन **'मैं'** की अनुभूति हो पाएगी। देह यदि मेरे साथ भस्मी-रूप में रहे तो भस्मी तो सबकी समान है। तो **'मैं'** सर्वत्र एक अपनी सर्वव्यापक **'मैं'** की अनुभूति कर पाऊँगा। जीवात्मा का स्वरूप ही यही है, 'चुटकी भर भस्मी के आधार पर पंच-प्राणों की टिमटिमाती हुई लौ' जिसका विस्तृत वर्णन मैंने **'जीव-ज्योति'** शीर्षक प्रवचन में किया है। इस प्रकार जाग्रत **'मैं'** (पंच-प्राणों की ज्योति) के साथ भस्मित देह होने पर मैं सब प्रकार के कर्मों, धर्मों, सम्बन्धों, देश-काल, माया के तीनों गुणों से परे जीवन-काल में अपने उस सच्चिदानन्द-स्वरूप की अनुभूति के आनन्द में विचरता रहूँगा।

यह **'मैं'** देह वाली मैं नहीं है। उस **'मैं'** में देह वाली **'मैं'** भी है और उसका आधार देह के नाम-रूप वाली **'मैं'** ही है। यही भेद है कि **'तू'** है तो **'मैं'** हूँ। जब आप उसकी परिधि में आ जाएँ तो फिर आपकी अपनी इच्छा भी नहीं रहती। जो उसकी इच्छा होती है, वह आपके मुँह से बुलवा देता है, कि प्रभु ! मेरी यह इच्छा है। नारायण को अपने साथ नर भी चाहिए, क्योंकि वह स्वयं निराकार है, स्वयं कुछ भी नहीं करता। परमात्मा ख़याल ही

ख़याल में **'मैं'** जीवात्मा को निर्मित कर लेता है। यही **'मैं'** ब्रह्मा, विष्णु व महेश बनकर सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार करती है। वहाँ **'मैं'** और **'तू'** के अतिरिक्त और कोई नहीं होता। फिर **'मैं'** नाम-रूप की देह का अवलम्बन लेकर लीला करती है और मायिक-सृष्टि का आनन्द लेती है। वह सृष्टि जो उसके लिए स्वतः प्रकट होती है, जिसकी 84 लाख मायिक विधाएँ हैं, जो सब पशु योनियों में हैं। देह के लिए जीवन जीने में 84 लाख मायिक विधाएँ हैं, जिसका रिमोट आपके मन में रहता है और जिसका बटन ईश्वर की इच्छा से दबता है, कि कौन सी विधा में वह आपको खिलाएगा। इन 84 लाख विधाओं में से आप जिस विधा में हैं, उस दिन का आपका वही रुटीन होगा। उस दिन का आपका जगत वैसा ही प्रकट होगा। पशुओं की तो अपनी एक ही योनि होती है। कुत्ता, कुत्ता रहता है, सूअर, सूअर रहता है। लेकिन आप जब देह को **'मैं'** के साथ पहचानते हैं, स्वयं को देह मानते हैं तो सारे ब्रह्माण्ड की 84 लाख योनियाँ आपके अन्दर आ जाती हैं, जो समय-समय पर ईश्वर इच्छानुसार आपके जगत में प्रकट होती रहती हैं। आपको लगता है कि आप कर रहे हैं अथवा दूसरा कुछ कर रहा है लेकिन सब कुछ आपकी मानसिक विधा के अनुरूप **हुआ हुआ** प्रकट होता है। मानव की मात्र 11 योनियाँ हैं—5 जिज्ञासु, 5 मुमुक्षु और 1 मुक्त। यदि आप 'जीवन काहे के लिए है' इस भाव के साथ तद्‌रूप हो गए तो आप 84 लाख पशु-योनियों से मुक्त हो गए। फिर आप केवल मनोरंजन के लिए इन 84 लाख पशु-योनियों का दृष्टा-भाव से आनन्द लेते हैं। यही देह और जीवन-प्राप्ति का महालक्ष्य भी है। **यदि जीवन का अधिकतम आनन्द लेना है तो उसका एक ही सूत्र है, कि जीवन-काल में, जीवन को, जीवन से हट कर देखें।**

निद्रायोग, मृत्युयोग और भस्मीयोग साधक के लिए साधना के तीन सोपान हैं, जिनमें प्रविष्टि कृपा-साध्य है। **अपनी देह को सुषुप्त देखने पर आपका विवेक जाग्रत होगा और आप अपने लिए प्रश्न कर पाएँगे कि मैं कौन हूँ? अपनी देह की मृतकावस्था से आत्मसात् होने पर आपकी मेधा**

व प्रज्ञा जाग्रत होगी और आपको अनुभूति होगी कि 'मैं अमर हूँ।' मेधा से आप शास्त्र और सद्‌गुरु के शब्दों के गहन अर्थों से अवगत हो पाएँगे और प्रज्ञा जीवन के उतार-चढ़ाव में आपका सन्तुलन बनाए रखेगी। अपनी देह की भस्मी से आत्मसात् होने पर आपको अपने शिवत्व का आभास होगा। भगवान शंकर विश्वनाथ हैं और भस्मीभूत रहते हैं। कुछ तो बात होगी भस्मी में कि उनके मात्र भृकुटि-विलास से कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का आनन्दमय निर्माण, पालन और संहार होता रहता है। जिस समय आप जीवन-काल में, जीते जी स्वयं को ख़ाक या भस्मी-रूप में देखेंगे तो आपके नाम-रूप की समस्त सृष्टि समाप्त हो जाएगी। उस समय आपके भीतर का शिवत्व प्रकट हो जाएगा और आपकी ऋतम्भरा जाग्रत हो जाएगी तथा आपमें ईश्वरीय रहस्यों को आत्मसात् करने की शक्ति आ जाएगी। शिवत्व के रहस्य भस्मी में छिपे हैं। इसी भस्मी से शिव का सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति तथा वैराग्य भी प्रस्फुटित होता है।

इस **'महायोग'** प्रवचन का सारांश ही यही है कि जीवन में दृष्टा-भाव से जीवन को देखने के लिए आपको अपनी जाग्रतावस्था में देह को सुषुप्त देखना होगा, मृतक देखना होगा अथवा भस्मित् देखना होगा। यही **'महायोग'** है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(महाशिवरात्रि महोत्सव 6, 7, 8 मार्च, 2005)

भस्मी एवं जीवन

सिनेमा-हॉल में सारी फिल्म सफेद पर्दे पर चलती है और चलती हुई फिल्म के दौरान हमें वह सफेद पर्दा नज़र नहीं आता। उस पर्दे पर बहुमुखी रंगों एवं भावों में चलती फिल्म से तद्‌रूप हुए हम सुखी-दुःखी होते हैं। यद्यपि हमें इसका पूर्ण ज्ञान होता है कि यह सब कुछ एक सफेद पर्दे पर चलता हुआ खेल है। एक निर्देशक और निर्माता द्वारा सोची समझी योजना अथवा पटकथा के तहत मात्र मेरे मनोरंजन के लिए दिखाया जाने वाला नाटक है। दुर्भाग्यवश, हमने जब अपनी जीवन रूपी फिल्म को देखना शुरू किया अथवा संसार-महानाट्‌यशाला में जब हमारा प्रवेश हुआ तो फिल्म प्रारम्भ हो चुकी थी और इस फिल्म के समाप्त होने से पहले ही हमें बीच में ही, उठाकर बाहर निकाल दिया गया। **क्योंकि न तो किसी ने अपना जन्म देखा और न ही किसी ने अपनी मृत्यु देखी।** जैसेकि किसी फिल्म के समाप्त होने से पहले यदि हमें सिनेमा-हॉल से बाहर निकाल दिया जाए तो हमारी एक नज़र चलती हुई फिल्म पर होगी और एक बाहर होगी कि पता नहीं मुझे बाहर क्यों निकाला जा रहा है। उस फिल्म में आगे क्या हुआ, विभिन्न पात्रों के साथ घटी घटनाओं ने क्या मोड़ लिया, यह जानने की ललक भी बनी रहती है, जो मुझे पुनः सिनेमा-हॉल में जाकर फिल्म देखने को उद्यत करती है। इसी को **'आसक्ति'** कहते हैं।

हमारे जीवन की समस्त कहानी **भस्मी से प्रारम्भ होती है, भस्मी में चलती है और भस्मी में ही समाप्त होती है। भस्मी ही सफेद पर्दा है, जो हमें नज़र नहीं आता,** क्योंकि जब हमारा इस संसार महानाट्‌यशाला में प्रवेश होता है तो फिल्म शुरू हो चुकी होती है। चलती हुई फिल्म के दौरान

भी वह पर्दा बनाम भस्मी होती है, लेकिन हमें नज़र नहीं आती और चलती हुई फिल्म से ही हमें उठाकर बाहर निकाल दिया जाता है, इसलिए उस भस्मी बनाम सफेद पर्दे से हम कभी भी रूबरू नहीं हो पाते। फिल्म में अनेक रंग होते हैं, उसमें गोलियाँ चलती हैं, तलवारें चलती हैं, घोड़े, हाथी दौड़ते हैं, हवाई-जहाज़ व गाड़ियाँ चलती हैं, परमाणु-बम विस्फोट होते हैं और माया अपने विभिन्न रूपों में सुखी-दुःखी करती हुई बहुमुखी खेल दिखाती है, लेकिन सफेद पर्दे पर कुछ असर नहीं होता, वह ज्यों का त्यों रहता है। यही है हम सबकी भस्मी, जो प्रारम्भ, मध्य और अन्त में समान रूप से रहती है। **प्रारम्भ** और **मध्य** में **भस्मी** भी होती है और **अन्त** में **भस्मी ही होती है।**

हमारी जीवन रूपी सारी फिल्म इस भस्मी रूपी सफेद पर्दे पर चलती है, जिसका अंकन पूर्णरूपेण प्रारम्भ से अन्त तक पहले ही हो चुका है। **जो हो गया है, वही होगा। 'हो गया' 'होगा'** का विस्तृत वर्णन मैंने **'दिव्यता–भाग 2'** शीर्षक प्रवचन में किया है। जैसेकि किसी फिल्म की पूरी कैसेट पहले ही बन चुकी होती है, हमारे सम्मुख उसकी मात्र प्रस्तुति होती है। फिल्म को देखकर हम हँसते भी हैं और रोते भी हैं, जबकि फिल्म में जो हँसा या रुला रहा है, वह हँसाने और रुलाने के पैसे ले रहा है। हम हँसने और रोने के लिए पैसे देते हैं। लेकिन हमें भली-भाँति ज्ञात होता है कि एक सफेद पर्दा है, जिस पर यह फिल्म चल रही है, जो पहले से ही बन चुकी है, जिसके निर्माता, निर्देशक, फाइनैन्सर तथा विभिन्न पात्र पहले से ही निश्चित हो चुके हैं। इसलिए हम रोते, हँसते हुए भी आनन्द में फिल्म देखते हैं। हमारे मानस पर उस पूरी फिल्म में हुई घटनाओं का कुछ तत्कालीन प्रभाव तो रहता है, लेकिन **अन्ततः हमें ज्ञान होता है कि बहुत कुछ हुआ लेकिन कुछ नहीं हुआ।** इसी प्रकार हमारी जीवन रूपी फिल्म भस्मी रूपी सफेद पर्दे से प्रारम्भ होती है, भस्मी में चलती है और अन्ततः भस्मी ही रह जाती है। लेकिन इस जीवन रूपी फिल्म में हमारा प्रवेश फिल्म शुरू होने के बाद होता है। क्योंकि फिल्म समाप्त होने से पहले ही हमें संसार-महानाट्यशाला से बाहर निकाल दिया जाता है, इसलिए वह भस्मी रूपी

पर्दा हमें कभी भी नज़र नहीं आता। इसीलिए हम जीवन रूपी नाटक को ही सत्य मानते हुए अपनी देह और देह पर आधारित जगत से ही तद्‌रूप हुए रहते हैं। इसी में सुखी-दुःखी होते हुए आसक्तियों को लिए हुए इस नाट्‌यशाला से बाहर निकाल दिए जाते हैं। वही आसक्तियाँ हमारे पुनः इसी नाट्‌यशाला का भाग बनने का कारण बनती हैं।

क्या हम अपना जीवन भस्मी से प्रारम्भ नहीं कर सकते? हम एक दिन का जीवन मानकर चलें । आज बुद्धवार 11 मई 2005, वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया, विक्रमी सवंत् 2062 है। आज का दिन हमारे जीवन में अन्तिम दिन है, क्योंकि 11 तारीख भी फिर आएगी, मई का महीना भी फिर आएगा, बुद्धवार भी फिर आएगा, वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया भी फिर आएगी, लेकिन 2005 और विक्रमी संवत् 2062 के साथ 11 मई और अक्षय तृतीया कभी नहीं आएगी। अतः आज का दिन मेरे जीवन-काल में अन्तिम दिन हो गया और यह भी हो सकता है, कि यह मेरे जीवन का अन्तिम दिन हो। हो सकता है मैं कल का सूर्योदय न देख पाऊँ। वह कालेश्वर जब चाहे मुझे इस इस दुनिया से बाहर ले जा सकता है। यह उस निर्देशक के हाथ में है, कि मेरी जीवन रूपी फिल्म का अगला मोड़ क्या होगा। यह भी विशेष गर्व का विषय है, कि आज का दिन मात्र मेरे लिए है। प्रत्येक के लिए आज का दिन पृथक्-पृथक् है। कोई आज किसी से मिला, कोई बिछुड़ा, किसी ने पाया, किसी ने खोया, कोई आज हँसा, कोई रोया। एक ही दिन है, लेकिन हरेक के लिए अलग-अलग है। इसका अर्थ है आज का दिन मेरे लिए ही है। यदि मैंने आज कुछ खो दिया और मेरे किसी साथी ने बहुत कुछ पा लिया तो हम उससे झगड़ते तो नहीं न कि तूने मेरे दिन में इतना कुछ पा लिया, जबकि मैंने खो दिया। इसी प्रकार हम आज किसी अपने प्रिय सम्बन्धी से मिले और कोई दूसरा अपने प्रिय से बिछुड़ा तो भी उससे यह तो नहीं कहते कि तुम मेरे दिन में किसी से क्यों बिछुड़े कि मेरा तो आज मिलने का दिन था। प्रेम करने का दिन था। तो तू मेरे दिन में किसी से लड़ा क्यों, बिछुड़ा क्यों? ऐसा कभी नहीं होता, यही अध्यात्म का सौन्दर्य है, कि आज का दिन

विशेष रूप से मेरे लिए है। आज की मेरी देह अन्य देहों से पृथक् है, क्योंकि कोई दो दिन कभी एक जैसे नहीं होते। शास्त्र ने इसे नित-नूतन कहा है। नित्य की देह और नित्य का समय मात्र मेरे लिए है। यह दृढ़ धारणा मानकर चलना चाहिए।

जब आपकी नींद खुलती है, आज के दिन की जीवन रूपी फिल्म शुरू हो चुकी होती है। जो पूरी तरह से पहले ही बन चुकी है। आज किस समय क्या-क्या होना है, उस सबका अंकन पहले से ही हो चुका है। प्रकृति ने किस समय कैसे-कैसे सुन्दर परिधान पहनने हैं, मौसम ने क्या-क्या रूप आपके लिए लेने हैं, सब कुछ निश्चित है। क्योंकि एक ही मौसम आपके लिए पृथक् और शेष सबके लिए पृथक् होता है। जैसेकि कोई कहे कि सुबह उठा तो बारिश हो रही थी, मूड खराब हो गया, सारे काम रुक गए। आपने कहा कि सुबह उठे तो ठण्डी-ठण्डी फुहार पड़ रही थी, काली बदरियाँ नृत्य कर रही थीं, मैं भी नाचने लगा। आप उससे लड़ेंगे तो नहीं कि भाई ! मैं तो नृत्य में झूम उठा था, तेरा मूड क्यों खराब हो गया। किसी को मेघ-गर्जना कान खाने वाली लगी, आपको मेघ-गर्जन का आनन्द आया। एक ही मौसम सबके लिए पृथक् होता है और उसके लिए आप किसी से उलझते नहीं, किसी को कैसा भी लगे।

उस अकाल ने आपको आज के दिन का काल दिया है, जो मात्र आपके लिए है। वह अकाल, काल में बँधा दिन आपको कैसे दे सकता है? अकाल को काल-बन्धन की धारणा ही कैसे होगी? आज के दिन की जीवन रूपी फिल्म का निर्देशक, निर्माता तो **अकाल** है, काल से परे है। आपने उसे काल में कैसे बाँध लिया? वह विदेह है आपने उसे देह में कैसे ले लिया? यह सब इसलिए हुआ, क्योंकि जब नींद खुली तो आपके आज के दिन की फिल्म शुरू हो चुकी थी। सुबह उठते ही आप सोचते हैं, कि आज आपके क्या प्रोग्राम हैं? प्रभु का आभार नहीं करते कि आपको सुबह उसने देह दी है, आज का दिन दिया है। अपने प्रोग्राम पहले बनाने लगते हैं, आपकी और आपके कार्यक्रमों की हैसियत ही क्या है? फिर उस पर आप कहते हैं कि

मुझे तो अहं बिल्कुल नहीं है। सुबह नौ बजे सो कर उठते हैं और कहते हैं कि मैं आज बहुत व्यस्त हूँ, मुझे तंग मत करना। आपने अकाल को काल में बाँध लिया। उस कालेश्वर ने, अकाल पुरुष ने आपको काल नहीं दिया था, आपने स्वयं के कार्यक्रम आरोपित कर अपने को तथाकथित कर्म, धर्म, कर्तव्यों में बाँध कर उस अकाल और निराकार के द्वारा आपकी देह के रूप में दी हुई विलक्षणतम्, भव्यतम्, विशिष्टतम्, चमत्कारिक, अद्वितीय संरचना व सुकृति को विकृति बना दिया। इसमें उसने जो सुकृतियाँ और सौन्दर्य दिया था उस पर कब्ज़ा करके उन्हें विकृतियाँ और कुरूपता बना दिया। क्योंकि न तो हमें इस देह का प्रयोग करना आता था और न ही काल का सदुपयोग ज्ञात था।

इसलिए सुबह जब भी नींद खुले तो सर्वप्रथम शुद्ध होकर देव-दरबार में जाना है और प्रभु से प्रार्थना करनी है कि "प्रभु ! यह सारा समय आपका है और यह देह जो आज मुझे नई दी है, वह भी आपकी है ये दोनों मुझे इस्तेमाल करने नहीं आते, आप जानते हैं कि मैं कुछ भी करने योग्य नहीं हूँ। मैं कुछ नहीं जानता हूँ। इसलिए यह समय और यह देह मैं आपको अर्पित करता हूँ।" **आप मत बँधिए उस देह से, जो आपकी नहीं है। स्वयं को समय से मत बाँधिए। वह आपके हाथ में नहीं है। जैसे ही आप प्रभु को आज के दिन का समय अर्पित करेंगे तो प्रभु अकाल की मोहर लगाकर, प्रसाद बनाकर आपको दे देंगे।** आप भी अकाल हो जाएँगे और यदि आप बिस्तर पर बैठे-बैठे ही स्वयं अपने कार्यक्रम बनाएँगे कि इतने बजे मुझे यहाँ पहुँचना है, यह-यह करना है आदि-आदि तो आप काल से बँध जाएँगे। जहाँ आप अपनी आज की मिली देह प्रभु को अर्पित करेंगे कि "प्रभु ! मुझे इसका प्रयोग करना नहीं आता कृपया मेरी ओर से आप इसका प्रयोग करें" तो आपकी तथाकथित विकृत देह पर (इसे आपने 'मेरी देह है' कह कर विकृत किया था) प्रभु विदेह की मोहर लगाकर प्रसाद रूप में आपको दे देते हैं। वह दिव्य-देह बन जाती है, जो हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता, भक्ति, साहस, मस्ती, कृपा, आनन्द, प्रेम और ईश्वरीय मोह के अश्रुओं से

परिपूरित होती है। जब आपकी देह का समर्पण वह स्वीकार कर लेता है तो आपको इस दिव्य-देह की अनुभूतियाँ होनी शुरू हो जाती हैं। आपको लगने लगता है कि ईश्वर का ही दिन है, उसी की देह है और उसी ने सब कुछ करना है या करवाना है। आपमें अकर्तव्यता का भाव आ जाता है। सब कुछ करते हुए भी आपको लगता है कि आप कुछ नहीं कर रहे। जो आपकी धन-सम्पदा है, शक्तियाँ हैं, उन्हें भी आप प्रभु को अर्पित कर देते हैं, तो प्रभु उस **समृद्धि** को **लक्ष्मी** में परिवर्तित करके आपको दे देते हैं।

आध्यात्मिक जगत में प्रविष्टि के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है, कि आपके पल्ले यह पड़ जाए कि आपके पल्ले कुछ नहीं पड़ा। उसके बाद का समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है। आप स्वयं जीवन में कुछ भी छेड़खानी मत करिए। सब कुछ ईश्वर ही आपसे करवाएँगे। वह आपकी देह और हाथों का इस्तेमाल उन कार्यों के लिए करेगा जो आपके हाथों में बिल्कुल नहीं हैं। (वैसे भी कुछ भी हमारे हाथ में नहीं होता, लेकिन हम व्यर्थ ही अपना अहं लगाए रखते हैं।) फिर सब कुछ **हुआ-हुआ** नज़र आएगा। आप अपने मूल रूप भस्मी, बनाम सफेद-स्क्रीन से जुड़ जाइए यह कहानी भस्मी से शुरू हुई है, भस्मी में चलती है और भस्मी में ही इसका अन्त होगा। सुबह आप भस्मी रूपी सफेद-स्क्रीन देख लीजिए और दिन भर आनन्द से जीवन रूपी फिल्म देखिए, आपको सिनेमा-गृह में जाने की आवश्यकता नहीं है।

करोड़ों ब्रह्माण्डों के निर्माता, पालनकर्ता व संहारकर्ता ने आपसे क्या करवाना था? आपको उसने एक कार्यक्रम के तहत देह दी थी। आप उससे जुड़े रहते और देखते वह क्या दिखाना चाहता है? आप व्यर्थ ही क्यों उलझते हैं, कि ''प्रभु ! मेरे बेटे को डाक्टर बना दो।'' आपके एक बेटे को डाक्टर बनाने के लिए प्रभु को पहले सैंकड़ों मरीज़ और कई बीमारियाँ पैदा करनी पड़ेंगी। ''प्रभु ! मैं परोपकार करूँ या दीन-दुखियों की सेवा करूँ'' आपने तो ठेका ले लिया सेवा का, पर प्रभु के लिए तो दीन-दुःखी बनाने की विपदा डाल ही दी। जीवन रूपी पूरी फिल्म का अंकन प्रारब्ध के तहत होता है और प्रारब्ध तब बनता है, जब हम ईश्वर से विमुख होते हैं। जब मन में यह

भाव आ जाता है, कि "मैंने करना है, अपने परिवार व समाज आदि को सुचारु रूप से चलाना मेरी जिम्मेदारी है। मैं नहीं करूँगा तो और कौन करेगा !" ऐसे भाव हमारे प्रारब्ध का बीज बनते हैं।

मैंने अपने **'कारणं-कारणानां'** शीर्षक प्रवचन में **स्वयंभू-कर्मों, संदर्भ-कर्मों** की विस्तृत चर्चा की थी। **स्वयंभू-कर्म** मेरे स्वयं के द्वारा उत्पन्न किए हुए होते हैं, जिनकी कोई आवश्यकता नहीं होती और **सन्दर्भ-कर्म** प्रारब्ध के तहत होने वाले सुनिश्चित कर्म होते हैं, जो होते ही हैं। क्योंकि **जो हो गया है, वही होगा।** तद्नुसार आप प्रेरित हो जाते हैं, आपको सहायक भी मिल जाते हैं और वह कार्य स्वतः भाव से आनन्द में हो जाता है। लेकिन आप उसमें भी अपने हस्तक्षेप से बाज नहीं आते और एक प्रारब्ध और बन जाता है, जिसका खाता आगे तक चलता रहता है। जब आप इन स्वयंभू-कर्मों और प्रारब्ध-कर्मों से निजात पा लेते हैं, तो प्रभु आपसे वह प्रदत्त-कर्म करवाते हैं, जिनके लिए उसने आपको देह-विशेष दी होती है। कुछ महापुरुष इन कर्मों में भी अपना भाव नहीं रखते, वे निमित्त भी नहीं बनना चाहते कि "प्रभु ! तुम भी खाली हो, मैं भी खाली रहना चाहता हूँ। इन प्रदत्त-कर्मों के लिए तुम किसी और को देह-विशेष दे दो या कर्म भी मेरी ओर से तुम करो। मैं आनन्द में सब देखना चाहता हूँ।" तो प्रभु उनको अपनी उपासना का प्रसाद देते हैं।

प्रभु फिर स्वयं आपकी देह का प्रयोग करते हैं और उन कर्मों के होने का आपको अहसास भी नहीं होता कि आपके द्वारा हो रहे हैं। क्योंकि **देह उस प्रभु की है। वे प्रयोग करते हैं और आप आनन्द में भस्मी रूपी पर्दे से जुड़े रहते हुए जीवन रूपी फिल्म देखते हैं।** आप ईश्वर से स्पष्ट कह देते हैं, कि "मैं तेरा इकलौता मानस-पुत्र हूँ, देह तुमने दी है, तुम इससे जो करवाना चाहते हो करवाओ, चाहे स्वयंभू हो, प्रदत्त हो, कुछ भी कर्म हो, लेकिन उसका कुछ भी प्रभाव मेरे ऊपर नहीं पड़ना चाहिए। यह रहस्य मैंने तुम्हारी कृपा से जान लिया है, कि जो कुछ भी मैंने तुम्हारे सम्मुख होकर किया, वह तुमने करवाया था और जो मैंने विमुख होकर किया, वह भी तुम्हारी लीला

थी। अब तुम मुझे कर्म-बन्धनों से मुक्त करो। **हम तुम्हारे सम्मुख हुए या विमुख हुए, इसके कारण तुम ही थे। क्योंकि सब कारणों के परम कारण तुम ही हो।** तुम्हारी इच्छा व संकेतों के बिना एक अणु-परमाणु भी इधर से उधर नहीं होता, यह तुम्हारी ही कृपा से हम जान गए हैं'':–

'आप मानें या न मानें मेरे क़ातिल आप हैं।'

उसके बाद उन पुरुषार्थ-कर्मों की श्रंखला प्रारम्भ होती है जिनका अंकन आपके प्रारब्ध में होता ही नहीं है। पुरुष+अर्थ, पुरुष यानि **'चेतनता'**, मेरी चेतनता का क्या अर्थ है? सभी कर्म मात्र उसी दिशा में होने लगते हैं। ये यज्ञ-हवन, धर्म-कर्म, प्राणायाम, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, तीर्थ-यात्रा, जप-तप, दान-पुण्य, ध्यान-समाधि आदि सब **पुरुषार्थ-कर्म हैं, जो प्रारब्धवश नहीं होते, कृपावश होते हैं।** कभी भी इन कर्मों में अपना अहं नहीं रखना, नहीं तो इसकी क्षमा सम्भव ही नहीं है। पुरुषार्थ-कर्म केवल कृपा-साध्य हैं।

जब ये कृपा-साध्य पुरुषार्थ-कर्म आपके द्वारा होने लगते हैं, तो आप जीवन रूपी फिल्म भी देखते हैं और भस्मी रूपी सफेद-स्क्रीन को भी अनदेखा नहीं करते। जीवन के एक-एक क्षण का भरपूर आनन्द लेते हैं। तब आप जान जाते हैं कि यह सब एक फिल्म की भाँति चलने वाली माया के विभिन्न रूप हैं, जिन्हें आप प्रभु के सामीप्य में बैठ कर देखते हैं। **आपके प्रारब्धवश होने वाले कर्मों का अंकन तो तब हुआ जब आप प्रभु से विमुख थे और अब उसे देखते समय आप प्रभु की गोद में बैठकर देख रहे हैं, तो प्रभु को धर्म-संकट पड़ जाता है, कि प्रभु-विमुखता में अंकित उन तथाकथित दुःख भरे दृश्यों को आपको कैसे दिखाए? तो प्रभु उनमें भी आपकी मानसिक स्थिति आनन्दमय बनाए रखते हैं** और आप प्रत्येक क्षण का आनन्द लेते हैं, क्योंकि साथ-साथ भस्मी रूपी सफेद पर्दा भी आपकी आँखों से ओझल नहीं होता। यह सब पुरुषार्थ-कर्मों द्वारा ही सम्भव हो पाता है। **पहले आप तमाशगीर थे, अब तमाशबीन हो जाते हैं।**

हमारी जितनी अस्थिरता, भाग-दौड़ व व्यस्तता है, वह समस्त स्वप्न-सृष्टि की भाँति ही है, बाद में पर्दा ही शेष रह जाता है। समस्त दृश्य,

प्राप्ति-खोना, सुख-दुःख, लाभ-हानि, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि भस्मी से प्रकट हुए, भस्मी में चले और अन्ततः भस्मी ही रह जाती है। आपको आश्वस्त हो जाना चाहिए कि यह सब स्वप्न सृष्टि में ही होता है, जो पहले से ही अंकित है। रात को आने वाले किसी स्वप्न की आप स्वयं योजना तो नहीं बनाते, कि आज स्वप्न में इस प्रकार के दृश्य देखेंगे, स्वप्न जो आना है, वही आएगा। इसी प्रकार कल का दिन क्या बीतना है, ईश्वर ही जानते हैं। जीवन भौतिक निरन्तरता नहीं है। आज कोई अरबपति है तो हो सकता है कल उसे भीख माँगनी पड़ जाए और आज जो भीख माँग रहा है, कल वह शहंशाह हो सकता है। **जीवन भस्मी रूपी स्क्रीन पर चल रहा है जिसका आदि, मध्य और अन्त भस्मी ही है।** यदि आप सिनेमा-हॉल में फिल्म शुरू होने के बाद प्रविष्ट हुए और बीच में ही बाहर निकल गए जैसेकि हम जीवन से निकाल दिए जाते हैं, तो हमारा ध्यान फिल्म में ही लगा रहेगा। इसी को **आसक्ति** कहते हैं। **जब जीवन-काल में भस्मी रूपी स्क्रीन मद्देनज़र रखेंगे तो वही मोक्ष है।**

आज हमने भस्मी को सफेद पर्दे के समकक्ष रखते हुए भली-भाँति समझ लिया कि जीवन रूपी फिल्म के दौरान यद्यपि भस्मी रूपी पर्दा नज़र नहीं आता, लेकिन उसे फिर भी भूलना नहीं है। प्रत्येक क्षण याद रखना है कि सारा खेल भस्मी रूपी पर्दे पर चल रहा है। खेल में बहुत कुछ होगा, लेकिन भस्मी से जुड़े रहेंगे तो उस सब **हुए-हुआए** का कोई महात्म्य नहीं होगा और आप फिल्म की भाँति उसका आनन्द लेंगे। फिल्म में बहुत कुछ होता है, गोलियाँ भी चलती हैं, अनेक प्राणी भी भागते-दौड़ते हैं लेकिन पर्दा ज्यूँ का त्यूँ वैसा ही रहता है। इसी प्रकार भस्मी से जुड़े हुए आप हर दिन की प्रत्येक विधा का नए-नए रूपों में आनन्द लेंगे। क्योंकि किसी फिल्म में क्या पाना और क्या खोना है ! यह सब माया है, जो पहले से ही अंकित है।

जीवन को ऐसे जीना है, जैसेकि आप अभिनय कर रहे हों और अभिनय ऐसे करना है जैसे आप उसे जी रहे हों। यह सब मायिक है यथार्थ में है कुछ नहीं, लेकिन इसका आभास तब होगा, जब आप अपने दिन

के प्रारम्भ में पहले भस्मी रूपी पर्दे का दिग्दर्शन कर लेंगे। **वह भस्मी जो आपके सामने बनेगी ही नहीं क्योंकि जब आपकी देह भस्मित होगी तब आप नहीं रहेंगे।** उस निर्देशक का चमत्कार ही यह है, कि जीवन की फिल्म के दौरान वह भस्मी रूपी पर्दा नज़र नहीं आता और पर्दा नज़र आने से पहले आपको संसार रूपी सिनेमा-गृह से बाहर निकाल दिया जाता है। इसलिए उस भस्मी का दिग्दर्शन रोज़ करना है, जो खाली स्क्रीन है। आपको पूरे दिन का कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता नहीं है। प्रभु स्वयं आपका कार्यक्रम बनाएँगे। माया मात्र मनोरंजन के लिए है। यहाँ निर्माण, पालन व संहार की शब्दावली भी सटीक नहीं प्रतीत होती कि पहले निर्माण होता है, फिर पालन होता है, फिर संहार होता है। ऐसा कोई क्रम भी इस मायिक संसार में चलने वाली जीवन रूपी फिल्म के नाटक का नहीं है। **संहार से ही निर्माण होता है। संहार में ही पालन होता है और बाद में संहार का भी संहार हो जाता है।**

जब हम हवन करते हैं तो प्रत्यक्ष देखते हैं, कि हवन में यह नहीं होता कि पहले लपटें उठेंगी, फिर प्रचण्ड होंगी, फिर भस्मी होगी। भस्मी साथ-साथ बनती रहती है। जैसे ही हवन-अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, भस्मी बननी शुरू हो जाती है। मध्य में भी भस्मी होती है और अन्ततः भस्मी ही शेष रह जाती है। **जीवन और हवन पर्यायवाची हैं।** जीवन का सारा प्रकरण चेतन-भस्मी में ही चलता है। निर्माण, पालन और संहार शिव में ही होता है। **जब ब्रह्मा होता है तब शिव होता है, जब विष्णु होता है तब शिव होता है, जब शंकर होता है तब भी शिव ही होता है तीनों शिव की ही विधाएँ हैं इसलिए शिव भस्मीप्रिय हैं। भस्मी ही अक्षय, अक्षर व शाश्वत् है।** आज अक्षय तृतीया के अवसर पर हम आपको आशीर्वाद देते हैं और मंगल-कामना करते हैं, कि आप सब जीवन रूपी फिल्म के आधार, इस भस्मी रूपी पर्दे को दृष्टि में रखते हुए जीवन के प्रत्येक क्षण का भरपूर आनन्द लें।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया – 11 मई 2005)

सोच

ईश्वर-प्रदत्त विभूतियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और चमत्कारी मानव की बौद्धिक व मानसिक शक्ति है, जो उसे पशुओं से पृथक् देव-दुर्लभ मानव-श्रेणी प्रदान करती है। हमारी बौद्धिक चेतना ईश्वरीय-चेतना की प्रतिनिधि है और मन, ईश्वरीय आनन्द का स्रोत है। **भाव आनन्द है और विचार चेतना है और दोनों के पारस्परिक समन्वय का इन्द्रियों द्वारा कृत्य के रूप में बाह्य प्रकाट्य सद् है।** बाह्य प्रकटीकरण आवश्यक नहीं है, लेकिन यदि प्रकाट्य मन-बुद्धि के सामंजस्य से है, तो वह 'सद्' होगा। जो भी कृत्य हमारे द्वारा बाह्य जगत में होता हुआ दृष्टिगत होता है, वास्तव में वह कृत्य भीतरी जगत में मन और बुद्धि के मनन, विचार व चिन्तन के रूप में पहले ही हो चुका होता है। कोई भी नक्शा कागज़ पर बाहर प्रकट होने के पूर्व, भीतर सोच-विचार व मनन के माध्यम से बन चुका होता है। अतः बाह्य जगत भीतरी जगत का मायिक प्रकटीकरण मात्र है। **चेतना व आनन्द के समन्वय का प्रकटीकरण सद्, चेतन व आनन्दमय ही होगा।**

बहुत सी कार्य-प्रणालियाँ भीतर ही भीतर हमारी देह में अनवरत चलती रहती हैं। जितनी भी हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ हैं, इनका संचालक हमारा मस्तिष्क है और मस्तिष्क में बुद्धि है। ईश्वरीय-चेतना युक्त हमारी यह बुद्धि बहुत सक्रिय और सशक्त है। एक ईश्वरीय महासोच है, जो एक ही समय में सबको किसी कार्य में सहायक या बाधक बनाती है। ईश्वर सर्वोपरि प्रशासक है। आप आकाश में चन्द्र, सूर्य आदि ग्रहों की क्रियाएँ व चाल देखिए, कोई किसी से नहीं टकराता। यदि ऐसा हो जाए तो महाप्रलय

हो जाए। आप अपनी देह को देखिए। आपकी बिना जानकारी के हर चार मिनिट में आपकी देह का सारा रक्त शुद्ध होता रहता है। 1300 सी. सी. रक्त प्रत्येक मिनिट में फिल्टर होता रहता है। हमारी किडनी में लाखों फिल्टर लगे हैं, जिनके द्वारा चुपचाप यह कार्य होता रहता है और हमें पता भी नहीं लगता। छः बड़ी-बड़ी दैहिक कार्य-प्रणालियाँ अनवरत कार्यरत रहती हैं। हृदय धड़कता रहता है। जो ईश्वर आपका हृदय, किडनी आदि चला रहा है, रक्त का प्रवाह धमनियों व शिराओं में प्रवाहित कर रहा है, आपकी **देह के तापमान का प्रबन्धन कर रहा है, वह आपका मस्तिष्क भी प्रयोग करता है। आप अपना हृदय आदि अपनी सोच से नहीं चला रहे हैं तो अपने मस्तिष्क को अपनी सोच में क्यों लगाया हुआ है। वह सोच निःसन्देह फिजूल की ही तो है, इसलिए बुद्धि को उसे ही इस्तेमाल करने दीजिए।**

हम अहंवश उस महाबुद्धि से कट जाते हैं और स्वयं सोचना शुरू कर देते हैं, कि भगवान ने बुद्धि दी है तो सोच-समझकर कार्य करना चाहिए। **अरे ! भगवान ने सोचने को बुद्धि दी है तो यह तो सोचो कि पैदा क्या खुद सोच कर हुए थे?** माता-पिता तुम्हारे अपने सोचने से मिले थे? विवाह-शादी, सन्तान आदि तुम्हारी सोच से होते हैं? मृत्यु कब, कहाँ और कैसे होगी, क्या तुमने सोचा है? हमें जो सोचना चाहिए वह तो सोचते ही नहीं। व्यर्थ, निरर्थक, नकारात्मक न जाने क्या-क्या सोचते रहते हैं। आप उस वस्तु का स्वयं कैसे प्रयोग कर सकते हैं, जो आपके प्रयोग के लिए है ही नहीं।

मानव को उत्कृष्टतम बुद्धि यह सोचने के लिए मिली थी, कि सोच-सोच कर, विचार करके आश्वस्त हो जाए कि उसके हाथ में कुछ नहीं है। **प्रभु उसके हाथों से जो भी करवा लेते हैं, वह उसकी वाह-वाह करे। अपनी उत्कृष्टतम सोच से ईश्वर की सोच की प्रशंसा करे।** जब ईश्वर इस बुद्धि का प्रयोग करेगा, तभी यह बुद्धि ईश्वरीय कृत्यों की प्रशंसा करेगी। वही बुद्धि वाह-वाह करेगी जो ईश्वर द्वारा प्रयोग की जा रही है। यह

अति सशक्त व सक्रिय बुद्धि ही कभी-कभी सर्वनाश का कारण बन जाती है। बुद्धि अपनी सोच से आपकी अपनी ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभाओं को आच्छादित कर देती है और ईश्वरीय प्रेरणाओं को ग्रहण करने की क्षमता ही समाप्त कर देती है। हमारी जो भी दुर्गति हो रही है वह हमारी सोच के कारण ही हो रही है और जो भी हम आनन्द ले रहे हैं, वह ईश्वरीय सोच के कारण, उसकी कृपा से है। **हम सभी, हर प्रकार से इस ईश्वरीय इस्तेमाल की वस्तु का न केवल दुरुपयोग करते हैं, बल्कि तिरस्कृत भी करते हैं। एक प्रकार से दैवीय संस्थानों का अपमान करते हुए, इस ईश्वर-प्रदत्त दुर्लभ बौद्धिक शक्ति के दुरुपयोग द्वारा तथाकथित कर्मयोगी बने रहते हैं।**

मानव में यह बुद्धि-शक्ति सर्वोपरि है। एक राजा यदि मूर्ख हो और वह मूर्खता व अज्ञानता में कोई आज्ञा दे तो उसका दुष्प्रभाव अवश्य होगा। कुछ लोग उसके विद्रोही हो सकते हैं, कुछ समर्थक हो सकते हैं, कुछ तटस्थ रह सकते हैं, कुछ उसका अन्धानुसरण करने वाले हो सकते हैं। इसी प्रकार बुद्धि की किसी भी सोच की दैहिक व मानसिक प्रतिक्रिया तथा प्रभाव अवश्य होता है। हमारे तन्त्रिका-तन्त्र व हारमोन प्रभावित होते हैं। बुद्धि की यह सोच न केवल स्थूल-देह, बल्कि हमारे सम्पूर्ण सूक्ष्म-मण्डल को भी प्रभावित करती है। **मस्तिष्क में अनवरत विचार-धारा के चलते, दैहिक ऊर्जा भी क्षय होती है और साथ ही निरन्तर कुछ प्रतिक्रियाएँ भी होती रहती हैं।** कुछ आवेश, कामुकता, प्रेम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, जलन आदि आवेगों का स्फुरण, परिवर्द्धन और लय चलता रहता है। जब आप अपनी इस सोच के बारे में सोचेंगे तो पाएँगे कि निरन्तर एक प्रक्रिया आपकी बुद्धि में चलती रहती है जो निरर्थक ही नहीं, नकारात्मक भी है। जिसका प्रदूषण आपकी अपनी देह व सूक्ष्म-जगत में निरन्तर फैलता रहता है। प्रत्येक स्थिति, वक्तव्य, प्रतिभा, कला आदि का अधिग्रहण आप अपनी सोच के आधार पर ही करते हैं। **सद्‌गुरु के शान्त, स्थिर व जीवंत प्राणमय मौन से मुखरित ब्रह्ममय शब्दों को भी आपकी सोच भ्रममय बना देती है, नहीं तो**

ब्रह्म में भ्रम तो हो ही नहीं सकता। अतः दिन के किसी भी समय अपनी सोच को बाधित करते हुए यह सोचें कि मैं क्या सोच रहा हूँ? ईमानदारी से कुछ देर के लिए अपनी विचार-धारा की दिशा-परिवर्तन यह सोचने के लिए करें कि पिछले 15-20 मिनिटों से मैं क्या सोच रहा था? अधिकतर स्थितियों में आप स्वयं को महामूर्ख की श्रेणी में रखना चाहेंगे। कई बार तो आत्मविश्लेषण करने में ग्लानि हो जाएगी।

किसी भी व्यक्ति के बारे में निर्णय हम अपनी सोच से करते हैं। कभी-कभी हम यह सोचते रहते हैं कि कोई हमारे बारे में ऐसा तो नहीं सोचता ! कोई हमारे बारे में क्या कहता है और कोई हमारे बारे में क्या सोचता है, इसमें बहुत अन्तर है। आवश्यक नहीं कि दोनों में एकरूपता व समानता हो। कभी-कभी तो दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। कहने में बनावट हो सकती है, औपचारिकता हो सकती है, उस वक्तव्य के पीछे दूसरे व्यक्ति के निजी स्वार्थ हो सकते हैं, ईर्ष्या-द्वेष हो सकता है। **यदि कोई आपके बारे में जो सोचता है, वही कहता भी है तो वह व्यक्ति ही आपका हितचिन्तक होगा। सामान्यतया सद्‌गुरु व माता-पिता आपका हित ही सोचते हैं। श्रवण, विचार, चिन्तन, मनन और आचरण जिसका एक हो, वही व्यक्ति आचार्य पद के योग्य होता है।**

आचरण सबसे महत्त्वपूर्ण है। कोई क्या सोचता है, क्या बोलता है और क्या करता है, क्या उसमें एकरूपता है? आचरण से हम किसी व्यक्ति की सोच का अनुमान सही तौर पर नहीं लगा सकते। आचरण सोच से पूर्णतः पृथक् भी हो सकता है। **लेकिन सोच, मूल आचरण की ओर संकेत तो करती ही है।** कई बार आप जो सोचते हैं, उसका क्रियान्वयन नहीं कर पाते। अनेक व्यक्तिगत, पारिवारिक, पारिवेशिक परिस्थितियों के कारण आपकी सोच का बाह्य प्रकटीकरण नहीं हो पाता। आपकी सोच और आपके **आचरण** में जो भिन्नता है, उसके पीछे कई ऐसे तत्त्व हो सकते हैं, जिनका उन्मूलन आप नहीं कर पा रहे हों। एक ऐसा समय था जब, भारत आज़ाद होना चाहिए, ऐसा बहुत से लोग सोचते थे। कई ऐसे सूरमा अपने सिर पर

कफन बाँध कर निकले, जिन्होंने इस कार्य का बीड़ा उठाया और अपनी सोच को कार्यान्वित किया। कई नहीं कर पाए, लेकिन उन्होंने भी उनकी प्रशंसा की, उत्साहवर्धन किया। स्वाधीनता संग्राम के आन्दोलन का नेतृत्व करने वालों का उन्होंने मात्र अनुसरण किया। कुछ मात्र सोच तक सीमित रह गए। जब व्यक्ति नेतृत्व करता है तो उसके पीछे लाखों-करोड़ों लोग उसका अनुसरण करते हैं, क्योंकि उन सबकी सोच एक ही होती है और किसी कारणवश वे उसके क्रियान्वयन का बीड़ा नहीं उठा पाते। इसीलिए जो नेतृत्व करता है, उसके पीछे लग जाते हैं।

किसी की सोच ही उसका मूल ढाँचा है। कभी-कभी हम किसी के लिए कहते हैं, कि मूलतः व्यक्ति बहुत अच्छा है, **लेकिन किन्हीं कारणों से उसका व्यवहार बड़ा अटपटा-सा हो जाता है। तो हम उस व्यक्ति को उसके आचरण से नहीं, बल्कि उसकी सोच से पहचानते हैं। सोच और आचरण में यदि एकरूपता होती है तो वही व्यक्ति आचार्यतुल्य है और वही नेतृत्व कर सकता है। हम आमतौर पर कहते हैं, कि पहले अपने जीवन में ढालिए, फिर उपदेश दीजिए।** कुछ सोच ऐसी होती है जिसका आप सार्वजनिक तौर पर आचरण ही नहीं कर सकते और सामान्य जनता आपका अनुसरण नहीं कर सकती।

सोच का विषय अत्यन्त गहन है। कोई सोच ऐसी होती है, जिस पर आचरण करने के लिए कोई विशेष सूरमा ही चाहिए। मर्यादा पुरुषोत्तम राम की सोच प्रशंसनीय है। हम उन्हें नमन करते हैं, लेकिन क्या हम उनका अनुसरण कर सकते है? हम उसे आचरण में ला ही नहीं सकते। **श्रीकृष्ण की अपनी सोच है। उसे वह सार्वजनिक रूप से कार्यान्वित भी करते हैं लेकिन हम उनको आचरण में नहीं ला सकते। क्योंकि उनका आचरण विचारणीय है, अनुसरणीय है ही नहीं। श्रीराम का आचरण तथाकथित अनुसरणीय है, वस्तुतः कोई उनका अनुसरण कर ही नहीं सकता।** युग-युगान्तरों से उनके आदर्शवादी आचरण की गाथाओं के प्रति हम नमन करते आए हैं, लेकिन आज तक कोई भी, राम के किसी भी आचरण का

अनुसरण नहीं कर पाया। राम के आचरण का अनुसरण मात्र राम ही कर सकते हैं। हम उनके आचरण को नमन कर सकते हैं और करते रहे हैं, क्योंकि उसीसे हमारे आचरण में दिव्यता झलकने लगती है। हममें सद्गुणों का प्रादुर्भाव होना प्रारम्भ हो जाता है। श्रीकृष्ण का आचरण मात्र विचारणीय है, उस पर चिन्तन कर प्रणाम करने से आपको कृष्णत्व का आभास हो जाएगा। कृष्ण की कृपा हो जाएगी। आप अपनी मानवीय-बुद्धि से उस पर जो भी विचार करेंगे, वह भी भ्रमयुक्त होगा। इसीलिए उस पर विचार करके नमन कर दीजिए, समर्पण कर दीजिए, कि प्रभु ! मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आपके आचरण पर विचार भी कर सकूँ, टीका-टिप्पणी करने की तो बात ही असम्भव है।

विषय चल रहा था, कि यदि हम ईमानदारी से यह सोचें कि मैं क्या सोच रहा हूँ तो कई बार आत्मग्लानि हो जाती है। हम उसे किसी को बताने में संकोच का अनुभव करते हैं। यह आत्मग्लानि होना बहुत ही स्वस्थ चिन्तन का संकेत व चिन्ह है। उस सोच का संशोधन मत करिए, उसे रोक दीजिए। अपनी बुद्धि को उस नकारात्मक दिशा में सोचने की अनुमति मत दीजिए। **किसी कारणवश यदि आपका मूड खराब हो तो बाह्य-जगत कितना भी सुन्दर व आकर्षक क्यों न हो, आपको बेकार ही लगेगा।** आपको गाना, खाना, मित्र, परिवार, मौसम, रोज़गार सब कुछ अपने प्रतिकूल प्रतीत होगा। किसी भी बात का सही अर्थ आप ले ही नहीं सकते। इसीलिए वह सोच आपको जर्जर व क्षीण करती है। आपकी स्थूल-देह, तन्त्रिका-तन्त्र, मनो-जगत एवं सूक्ष्म-मण्डल को भी निरर्थक ही नहीं नकारात्मक रूप से प्रभावित करती है, जिसका आपको ज्ञान नहीं होता। उस सोच का किसी भी तरह से उन्मूलन परमावश्यक है।

जीवन हमारी सोच से नहीं चलता, बल्कि बाधित होता है। हमारी सोच से एक तो हम ईश्वर के कार्यों में व्यवधान डालते हैं और ईश्वर-प्रदत्त प्राप्तियों के भोग से भी वंचित हो जाते हैं। तो आप स्वयं की सोच को बाधित कर मस्तिष्क खाली कर दें या सोच का रूपान्तरण कर दें। वह तभी कर

पाएँगे जब सोच के विषय में सोचेंगे कि मैं निरर्थक क्यों सोच रहा हूँ! **परमात्मा ने मानव-देह कुछ देने के लिए दी है, इससे कुछ लीजिए। तभी आप कुछ ले पाएँगे जब अपनी बुद्धि को सोच से खाली कर देंगे या भजन-कीर्तन द्वारा उसमें रूपान्तरण कर देंगे, जिससे ईश्वर को अपनी प्रेरणाओं और विभूतियों को प्रेषित करने में बाधा न पड़े।**

आप इस मानव-देह और बुद्धि का प्रयोग, छल, चतुराई व कपट में कर रहे हैं। ऐसी सोच भीतर ही भीतर जर्जर और क्षीण कर रही है और आपको इसका आभास भी नहीं है। कालान्तर में जब उसका परिणाम सामने आता है तो आप घबरा जाते हैं, कि मैंने तो ऐसा सोचा ही नहीं था। तो सोचना था न, कि मैं आखिर सोच क्या रहा हूँ? क्योंकि बाहरी कृत्य महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। वे मात्र आपके भीतर मन और बुद्धि के परस्पर सम्बन्धों का बाह्य प्रकटीकरण हैं। वस्तुतः कृत्य तो भीतर पहले ही हो चुका है, जब वह सोच परिपक्व हो जाती है तो बाहर किसी कृत्य के रूप में प्रकट होती है। **प्रकाट्य कर्म नहीं है, कर्म तो भीतर बहुत पहले से प्रारम्भ हो जाता है। तो आपको प्रारम्भ में ही सोचना चाहिए कि मेरे भीतर क्या चल रहा है, क्या प्रारम्भ हो चुका है।** क्योंकि ईश्वर-इच्छा में परिपक्व होते ही वह सोच कृत्य-रूप में बाह्य जगत में प्रकट हो जाती है।

प्रश्न उठता है कि मैं गलत या सही सोच रहा हूँ, इसका लक्षण क्या है , पहचान क्या है? उसकी एकमात्र कसौटी आपका मानसिक भाव है। यदि उस सोच से, उस विचार-धारा से आपको ग्लानि हो जाए तो तुरन्त उस सोच का उन्मूलन कर देना चाहिए अथवा उसे दूसरी सार्थक सोच द्वारा रूपान्तरित कर दें या बिल्कुल खाली कर दें। हमारी देह में प्रकट होने वाले विभिन्न रोग हमारी अहंपूरित नकारात्मक और निरर्थक सोच के कारण ही होते हैं। हमारी सोच ही रुग्ण वृत्ति बन जाती है जो कालान्तर में दैहिक रोग बनकर प्रकट हो जाती है।

सरकारी कागज़ों में कई कॉलम केवल सरकारी प्रयोग के लिए होते हैं। इसी प्रकार मानव-देह में बुद्धि केवल ईश्वर के अपने प्रयोग के लिए दी

गई थी। दुर्भाग्यवश हम सरकारी प्रयोग वाला कॉलम ही पहले भरते हैं। आपकी यह सोच केवल निरर्थक होती तो कोई बात नहीं थी, निरर्थक तो है ही, लेकिन आपका स्वयं बुद्धि को इस्तेमाल करना ही **अवैध** था। आपकी भृकुटि से ऊपर, दशम् द्वार का क्षेत्र ईश्वर के प्रयोग के लिए ही है। इसीलिए आपका आवेदन-पत्र ही ग़ैरकानूनी हो जाता है और फाड़कर फेंक दिया जाता है। बच्चे का नामकरण करते ही हम उसके सरकारी इस्तेमाल का कॉलम खुद भरने लगते हैं कि बेटा ! तुम्हें डॉक्टर बनना है और अपना नर्सिंग-होम चलाना है या तुम्हें चार्टर्ड-एकाउन्टैन्ट बनना है और पापा के साथ ऑफिस में बैठना है। बच्चा भी तथाकथित होश सम्भालते ही पूरी तरह आश्वस्त हो, उसी दिशा में जुट जाता है, अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है। तो देहाध्यास आते ही हम यह अपराध करना शुरू कर देते हैं, कि मैंने कुछ बनना है। आपने सरकारी प्रयोग वाले क्षेत्र में न केवल हस्तक्षेप किया, बल्कि आप तो स्वयं अफसर बन बैठे। **यह बार-बार जन्म-मृत्यु हमारी बुद्धि के हमारे द्वारा प्रयोग के कारण ही होती है, क्योंकि समस्त आवेदन-पत्रों में सरकारी प्रयोग वाला भाग हम स्वयं भर देते हैं।** तो ईश्वर हमें दोबारा देह देता है और हम यही भूल पुनः पुनः दोहराते रहते हैं। नए जन्म, नए आवेदन-पत्रों की भाँति ही हैं।

बुद्धि सरकारी इस्तेमाल के लिए है, यह हमें कौन बताएगा? इसके लिए सद्‌गुरु की शरण में जाना चाहिए। जिसका कोई आध्यात्मिक गुरु नहीं है, वह लावारिस और निगोड़ा है। **सरकारी प्रयोग वाले क्षेत्र में यदि आपने हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया है, तो सद्‌गुरु उसे मिटवाता है।** सद्‌गुरु आपका दिशा-निर्देशन करता है, कि तू सोच मत, बस ईश्वर का नाम-जाप कर, भजन-कीर्तन व नृत्य कर। इस प्रकार सद्‌गुरु नाम-जाप, भजन-कीर्तन द्वारा आपकी सोच को खाली करवा के रूपान्तरित कर देता है, ताकि ईश्वर स्वयं उसमें कुछ भर सकें, अपनी दिव्य प्रेरणाओं से आपको पुरस्कृत करें।

आपने यदि उसमें कुछ भरना है तो वह भरिए, जिससे उसमें कुछ और

भरने में ईश्वर को परेशानी न हो। जो आपकी बुद्धि रूपी चिप है उसे सैटेलाइट प्रयोग करेगा और उस कृत्य में जितनी बुद्धियाँ लगानी हैं, उन सबको एक साथ तदनुसार प्रेरणाएँ प्रेषित करेगा। नहीं तो आप अपनी बुद्धि से कितना सोच सकते हैं, कितना कार्य कर सकते हैं। जब ईश्वरीय प्रेरणाओं के लिए आपकी बुद्धि खाली होगी तो आपके लिए कोई भी कृत्य **हुआ-हुआ सा** ही होगा। इसीलिए हमने ऑफिशियल कॉलम खाली रखना है। जो कार्य ईश्वर ने आपसे करवाना है या जिस कार्य में आपको सहायक होना है या बाधक बनना है, यह ईश्वर पर निर्भर करता है, कि वह आपको प्रेरित करे और उचित ढंग से करवाए। यदि अपनी बुद्धि का प्रयोग स्वयं करते हैं तो मात्र ईश्वरीय योजनाओं में हम बाधक ही बनते हैं, जहाँ बाधक बनना है, वहाँ तो बाधक बनते ही हैं। जहाँ सहायक होना है, वहाँ भी बाधक बनते हैं:–

''नानक दुखिया सब संसार, सो सुखिया जो नाम आधार।''

जिसने ईश्वर के नाम का सहारा ले लिया वही सुखी है, शेष सब दुःखी क्यों हैं? क्योंकि जो आप सोचेंगे हमारी वही सोच बाधक बनती है। जीवन हमारी सोच से नहीं चलता। अपनी सोच से हम पैदा नहीं हुए, हमारी सोच से जीवन की कोई घटना भी नहीं घटती, अपनी सोच से हम मरते नहीं। इसीलिए जब हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, कि ''प्रभु ! मुझे बल-बुद्धि-विद्याहीन कर दो, क्योंकि यदि **'मैं'** प्रयोग करूँगा तो आप द्वारा प्रदत्त सुबुद्धि को भी दुर्बुद्धि बना दूँगा। हे प्रभु ! आप अपनी बल-बुद्धि, विद्या, सामर्थ्य और शक्तियों से मेरा जीवन चलाओ। मैं जानता हूँ और आप भी जानते हैं, कि जब-जब मैं बुद्धि का प्रयोग करता हूँ, तो मैं फँसता हूँ। आधि, व्याधि और उपाधि रोगों से घिरता हूँ और मल-विक्षेप आवरण से आच्छादित हो जाता हूँ। अतृप्ति, असन्तुष्टि, आसक्ति, असुरक्षा तथा देह के, अनेक बन्धनों से जकड़ा रहता हूँ।''

लोग अक्सर कहते हैं, कि ईश्वर के नाम-जाप में बड़ी शान्ति मिलती है, क्योंकि जो आपकी सोच ईश्वरीय सोच को बाधित करती है, इस दौरान

वह हट जाती है। ईश्वरीय-सोच तो आनन्दमय होती ही है। नृत्य, कीर्तन, भजन द्वारा अपनी नकारात्मक सोच को हटा दीजिए या सत्संग द्वारा अपनी सोच को रूपान्तरित कर दीजिए। संत की वाणी सत्य की प्रस्तुति होती है। उसका अधिग्रहण जब आप श्रद्धा से करेंगे तो चूँकि असत्य की अपनी शक्ति तो होती नहीं, अतः आपकी अपनी असत्य, निरर्थक व नकारात्मक अशान्ति-कारक सोच स्वतः हट जाती है। इसीलिए नाम-जाप द्वारा अपनी व्यर्थ की सोच को बाधित करना है। नाम-जाप द्वारा सोच उस ईश्वर के लिए सुरक्षित रहती है, जिसने बुद्धि प्रदान की है। दैवीय संस्थान आपसे बँधे नहीं हैं, वहाँ से कब आपको प्रेरणा मिलनी है, आप नहीं जानते। आवश्यकता पड़ने पर आपकी बुद्धि दिव्य विधाओं द्वारा प्रयुक्त होती है। जब वे देखती हैं, कि वहाँ पहले से दूसरी विचार-श्रंखला चल रही है, तो वे आपको उचित कार्य के लिए प्रेरित नहीं कर पातीं। दैवीय प्रेरणा आपको मिले तो भी आप सही रूप में उसका अधिग्रहण नहीं कर पाते।

हमारी सोच जीवन की सहजता व स्वतः भाव को न केवल बाधित करती है, बल्कि जीवन को क्षत-विक्षत और अस्त-व्यस्त कर देती है। अतः अपनी सोच को या तो हटा देना चाहिए जिससे ईश्वर के लिए आपकी बुद्धि खाली रहे या उसे नाम-जाप आदि द्वारा व्यस्त कर देना चाहिए। सोच में राम-लीलाओं, कृष्ण-लीलाओं से सम्बन्धित विचार-श्रंखला चले, ताकि प्रभु-प्रेरणाओं के अधिग्रहण के लिए उर्वर-भूमि तैयार रहे। भजन-कीर्तन द्वारा अथवा ईश्वर के विविध अवतारों की लीला-चर्चा द्वारा मन-मस्तिष्क में ऐसा सुगन्धित व दिव्य वातावरण बन जाए कि उस आनन्दमय वातावरण में ईश्वर के दैवीय संस्थान वहाँ कार्य करके प्रसन्न हों। आपकी अपनी बौद्धिक सोच, रूपान्तरित होकर ईश्वरीय प्रेरणाओं को ग्रहण करके, क्रियान्वित करने के लिए तैयार हो जाए। तो आपको अपनी उत्कृष्टतम् सोच से मात्र यह सोचना और आश्वस्त हो जाना है, कि आपके हाथ में कुछ नहीं है। आपको मात्र ईश्वर के सम्मुख रहना है।

जीवन में क्या पाना है? **जो मिला है वह छूटेगा अवश्य और कुछ खो**

गया तो यहाँ अपना है क्या? मूलतः हम जीवन में प्रत्येक क्षण में ईश्वर के सान्निध्य का अनुभव करते हुए आनन्द में रह सकें, यही जीवन का लक्ष्य है। किसी भी कार्य में कुछ खोना या पाना महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है आपकी मानसिक स्थिति जो सोल्लासपूर्ण और अति आनन्दमय हो। आनन्द का वस्तुओं की प्राप्ति या खोने से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि इनका आनन्द से सम्बन्ध है। खोना और पाना दोनों ही आनन्दमय हों। कभी-कभी कुछ पाकर आप तनावित हो जाते हैं और कभी कुछ खो कर राहत महसूस करते हैं।

यदि किसी वस्तु की प्राप्ति आनन्दमय नहीं है तो वह प्राप्ति आपकी अपनी सोच का प्रतिफल है और अवैध है। उसे आप कभी भोग नहीं सकते। आपकी अपनी सोच ने ही महाचेतनता को नाम-रूप की तुच्छ सी संकुचित अवचेतना बना दिया। एक तुच्छ सा संसार निर्मित कर लिया जो मात्र नाम-रूप की देह-चेतना पर आधारित था। जबकि आप जानते हैं कि एक पल भी आपके हाथ में नहीं है तो फिर अपने हाथ में रखते क्यों हो? जीवन जिसका है, उसी को चलाने दीजिए। आपका मानसिक आनन्द ही सबसे बड़ा निर्णायक है। आनन्द ईश्वर का स्वरूप है, दैहिक नहीं है। **जहाँ आनन्द होगा वहाँ सद्, चेतन होगा ही, वह आनन्द आपकी धरोहर है।** तो हमारी हर सोच, हर विचार-धारा हमें अपने स्थायी निवास में रखने के लिए हो:–

''सच्चिदानन्दोऽम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(24, 25 व 27 जून 2005)

देहाभास से भस्माभास तक

जीवात्मा स्वयं में उस सच्चिदानंद, निराकार, पंच-प्राण-पुंज एवं छः विभूतियों से युक्त पारब्रह्म परमेश्वर का विशुद्ध अंश है। युगों-युगान्तरों से, विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में उसने तथाकथित होश में जब भी स्वयं को देखा तो किसी न किसी देह के साथ देखा। यह देह के होने की संवेदना से कभी मुक्त नहीं हो पाया। किसी का दुर्घटना में हाथ कट जाए तो भी उसे आजीवन हाथ होने की अनुभूति बनी रहती है। चार-पाँच दिन लगातार बारिश होती रहे तो कुछ दिनों तक बिना बरसात के भी वर्षा होने का आभास बना रहता है। इसीलिए जीवात्मा को भी देह के होने का आभास सुषुप्ति, विस्मृति, मृत्यु, समाधि तक में रहता है। यही **देहाभास** तथाकथित होश में आते और एक नाम-रूप की देह के साथ स्वयं को पहचानते ही **देहाध्यास** में रूपान्तरित हो जाता है।

देहाध्यास का प्रथम सोपान देहाभास है। जन्मों-जन्मान्तरों में विभिन्न रूपों में जो **देहाध्यास** था, वह उन देहों के न रहने पर चला गया लेकिन **देहाभास** नहीं गया, जो किसी विशेष देह को अपने साथ पाते ही पुनः **देहाध्यास** बन गया। **'मैं' और 'देह'** जो परस्पर बिल्कुल पृथक् थे, उसके लिए **'मैं देह हूँ'** ऐसा भ्रम अचानक एकदम से जीवात्मा को कैसे हो गया? 'मैं देह हूँ' इस मान्यता के परिपक्व होने से पहले अवश्य कुछ विशेष भ्रम के बिन्दु रहे होंगे, जिनके कारण जीवात्मा अपने मूल सच्चिदानंद स्वरूप से बिल्कुल **कट सा** गया। **कट सा** इसलिए क्योंकि उस स्वरूप ने इसे कभी भी नहीं छोड़ा।

एक गहरे गड्ढे में गँदला पानी भरा हो और हवा चल रही हो तो वह जल स्थिर नहीं होता। उस जल में पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब भी अस्थिर, हिलता हुआ और आड़ा-तिरछा, टेढ़ा-मेढ़ा दृष्टिगत होगा। उस प्रतिबिम्ब के जो अनेक छोटे-छोटे प्रतिबिम्ब उस गड्ढे की दीवारों पर बनते हैं, जो झिलमिलाहट सी चारों ओर नज़र आती है, वे भी हिलते हुए अस्पष्ट से होते हैं। क्योंकि एक तो पानी हिल रहा है और गँदला भी है। उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब भी झिलमिलाता हुआ अस्पष्ट, अस्थिर नज़र आता है, जिसकी तुलना **'चिदाभास'** से की गयी है। सूर्य चेतन है, उसका जो प्रतिबिम्ब व झिलमिलाहट है, वह उस चेतन सूर्य का आभास है। वह स्वयं में चेतन सूर्य नहीं है, उसका आभास मात्र है। उसका एक अस्थिर, अशान्त प्रतिबिम्ब बना और वह प्रतिबिम्ब ही अनेक छोटे-छोटे प्रतिबिम्बों में आभासित होता है। इसी प्रकार यह जगत **'चिदाभास'** है। सूर्य-सदृश उस चेतन ईश्वर का आभास है। है नहीं, लेकिन नज़र आता है।

सूर्य चेतन है, वह **'कारण'** है, गड्ढे के गँदले, हिलते हुए जल में पड़ने वाला उसका अस्थिर सा प्रतिबिम्ब **'स्थूल'** है और उस प्रतिबिम्ब के बनने वाले अनेक छोटे-छोटे झिलमिलाते हुए बिम्ब **'सूक्ष्म'** जीव-सृष्टि है। वस्तुतः यही जगत और जीव-सृष्टि है। हमने अपने विभिन्न प्रवचनों में **'देहाध्यास'** व **'देहाधिपत्य'** का अनेक आयामों में वर्णन किया है। लेकिन जीवात्मा का देहाध्यास परिपक्व होने से पहले **'चिदाभास'** रूप इस जगत को उसने जिस देह के माध्यम से अनुभव किया, पहले उस देह का उसे आभास मात्र हुआ। आज प्रथम बार हम इस नये शब्द का प्रयोग कर रहे हैं—**'देहाभास'**। जीवात्मा को देह की अनुभूति हुई। उदाहरणतः, कुछ आहट होने पर हमें आभास होता है कि कोई है, चाहे वह आहट, हवा से दरवाजा हिलने से हुई हो। तो आभास मात्र एक संवेदना है, जिसका आधार अस्पष्ट सा ही होता है। जीवात्मा ने भी पंच-महाभूतों की देह धारण की तथा जब भी वह तथाकथित होश में रहा तो इसने एक नाम-रूप की देह को हमेशा अपने साथ पाया। सुषुप्ति में देह हमारे साथ नहीं होती लेकिन जब भी हम

तथाकथित जाग्रत अथवा अपनी तथाकथित चेतनावस्था में होते हैं तो अपनी देह को अपने साथ ही पाते हैं। यहाँ तक कि स्वप्नावस्था में भी एक देह हमारे साथ होती है। इसलिए **'देहाभास'** **'देहाध्यास'** में रूपान्तरित हो जाता है।

आसक्ति एक विशेष नाम-रूप की देह की ही होती है, नहीं तो आसक्ति नहीं होती। उदाहरणतः, एक विमान दुर्घटना-ग्रस्त हो गया, काफी लोग मर गए, तो यदि हमारा कोई सगा-सम्बन्धी उसमें हो या किसी अपने के होने की सम्भावना हो तभी हमें उसकी चिन्ता होती है, नहीं तो नहीं होती। जीवात्मा को एक नाम-रूप की देह के साथ अध्यास होता है तो उसीके मोहवश, राग में यह अपनी सृष्टि बनाता है और अपने परिवार, सगे-सम्बन्धी, घर, समाज, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा आदि-आदि सम्पूर्ण सृष्टि के साथ इसे आसक्ति हो जाती है। इसे मैं विस्तार से समझाने का प्रयत्न करूँगा, आपकी परम श्रद्धा व एकाग्रता वांछनीय है। माँ के गर्भ में जीवात्मा गर्भाधान के चौथे-पाँचवे महीने प्रविष्ट होती है, तो देह तो पहले बननी शुरू हो जाती है। जीवात्मा **'देहाभास'** के साथ ही गर्भ में प्रविष्टि पाती है, क्योंकि उसकी चेतना में पूर्व जन्मों की विभिन्न देहों की अस्पष्ट धुँघली-सी स्मृति **'देहाभास'** के रूप में अंकित है। वह विशेष स्थान, विशेष परिस्थितियाँ, विशेष ग्रह-नक्षत्र, माता-पिता का भौतिक, आर्थिक, सामाजिक स्तर, भाई-बहनों में विशेष नम्बर पर होना, आदि सब कुछ **'देहाभास'** में अंकित होता है, जिसके अनुसार उसकी बाह्य परिस्थितियाँ बनती हैं। फिर पैदा होने पर कालान्तर में उसका नाम रख दिया जाता है और उसे उसके रूप से परिचित करा दिया जाता है। देह मिलने पर **'देहाभास'** परिपक्व होकर **'देहाध्यास'** में रूपान्तरित हो जाता है। अतः स्पष्ट है, कि जीवात्मा जब माँ के गर्भ में प्रविष्ट हुआ तब स्वयं में बिना देह के होते हुए भी **'देहाभास'** लेकर आया था। **उस सच्चिदानंद स्वरूप में देहाभास की स्मृति से जब भी देह के होने की अनुभूति होती है तो वह जीवात्मा, जीव बन जाता है।** एक जीव ने देह धारण की तो उसे **देहाध्यास** हो गया कि मैं अमुक-अमुक हूँ और

उस **देहाध्यास** में उसने समस्त जीव-सृष्टि या सूक्ष्म-मण्डल का निर्माण किया। प्रारम्भ में वह **देहाभास** ही मायिक और मिथ्या था, जो जीवात्मा के जीव बनने का कारण बना, फिर **देहाध्यास** में यह मायिक जीव-सृष्टि में उलझता ही चला गया।

एक नवजात शिशु को **देहाभास** होता है। हम चिकित्सक पाँच-छः दिन के शिशु के तन्त्रिका-तंत्र की सक्रियता देखने के लिए उसे लिटा कर पास ही लकड़ी की मेज पर ज़ोर से हाथ मारते हैं तो वह शिशु अपने हाथों-पैरों को सिकोड़ता है। वह अपने को सुरक्षित करना चाहता है। उसे भूख लगती है तो रोता है, दर्द होता है तो चिल्लाता है। लेकिन उसके जन्म लेते ही उसकी माँ मर जाए या उसका घर-सम्पत्ति लुट जाए या विशेष धन उसके पिता को मिल जाए तो उसे कुछ भी सुख-दुःख नहीं होता। जब तक **'देहाध्यास'** नहीं होता तब तक उसका कुछ **'मैं'** और **'मेरा'** नहीं होता। वह न किसी वस्तु का दावेदार है, न हकदार है और न वह किसी भी चीज़ का स्वामी है। न उसे किसी वस्तु का अधिपत्य है, न अधिग्रहण है। उसे जहाँ बैठा दो, बैठ जाएगा। उसका न कोई धर्म है न कोई कर्म, न कर्तव्य, न सम्बन्ध, न देश, न काल, क्योंकि उसे **देहाध्यास** नहीं है। लेकिन उसे देह के होने की अनुभूति है, जिसे वह व्यक्त नहीं कर सकता। **जब वह कहने में आ जाए तो देहाध्यास बन जाता है।** एक देह है जो मेरी है, एक दूसरी देह है, जो मेरी माँ है और पिता है। इस प्रकार स्थूल के साथ सूक्ष्म-जगत बनता चला जाता है। **अतः देहाभास ही देहाध्यास की जननी है।**

देहाभास और **देहाध्यास** के मध्य कई बिन्दु हैं जो आत्मचिंतन करते हुए सम्मुख आते हैं। **देहाभास** में कोई राग-द्वेष नहीं होता। जितना राग, द्वेष, वैर, वैमनस्य, प्रेम, घृणा आदि हैं, वे **देहाध्यास** में हैं। पूर्व जन्मों की स्मृति चेतना में **देहाभास** के रूप में ही अंकित है। **देहाभास** की स्मृति हमारी बुद्धि की नहीं बल्कि चेतना की थी। जैसे ही उस विशुद्ध चेतना ने स्वयं को देह के साथ देखा तो उसकी स्मृति जाग्रत हो गई कि यह तो देह है जो मैं लेता रहा हूँ और **देहाभास, देहाध्यास में बदल गया।**

हमारे समस्त कष्टों व पीड़ाओं का मुख्य कारण जो **देहाध्यास** है, उसका मूल कारण **देहाभास** है। जिसका उन्मूलन किसी न किसी प्रकार से होना परमावश्यक है।

हमने **'जीव-ज्योति'** शीर्षक प्रवचन में जीवात्मा का स्वरूप बताया था—**'चुटकी भर भस्मी के आधार पर पंच-प्राणों के पुंज का अंश स्वरूप, टिमटिमाती हुई लौ'।** भस्मी से पाँचों-महाभूत प्रकट हुए। भस्मी उत्प्रेरक तत्त्वातीत तत्त्व है, जो स्वयं में कभी नष्ट नहीं होती और उससे पंच-महाभूतों में समस्त चर-अचर प्राणी-जगत का प्रकाट्य हुआ। इस प्रकाट्य का कारण पंच-प्राण-पुंज ईश्वर है। जब जीवात्मा को देह मिली वहाँ से इसने **देहाभास** में **देहाध्यास** होते ही जीव-सृष्टि रची। रचने वाला परमात्मा ही है, परन्तु यह उस सृष्टि को अपनी समझ बैठा। जीवात्मा का आधार **भस्मी** ही है, लेकिन यह स्वयं को देह मान बैठा, वहीं से यह जीव बना। जब तक इसे **भस्माभास** था, यह विशुद्ध जीवात्मा था, न किसी से राग, न द्वेष। इसके माध्यम से तमाशा होता था, दिखाने वाला ईश्वर भी आनन्द में देखता था, यह जीवात्मा भी आनन्द से देखता था। जीवात्मा को जब देह का आभास अथवा देह की अनुभूति हुई तो यह जीव बन गया और अपने सच्चिदानंद-स्वरूप से कट सा गया। यह देहाभास ही देहाध्यास बना।

मृत्योपरान्त देह छोड़ने के बाद भी कभी-कभी यह देहाध्यास नहीं छूटता तो यह जीव प्रेत-योनि में चला जाता है। रात को सुषुप्ति में देहाभास तो रहता ही है, लेकिन देह के न होने पर भी देहाध्यास होता है तो स्वप्न आते रहते हैं। बिना देह के जीवात्मा देह बनाता है, उसमें जीवात्मा कई सृष्टियों में घूमता है। यह रात्रि की स्वप्न-सृष्टि ही, मृत्यु के बाद की प्रेत-योनि की तरह से है। जब मृत्यु के बाद हम किसी के लिए कहते हैं, कि उसकी गति नहीं हुई इसका अर्थ है उसका देहाध्यास नहीं गया। फिर उसके निमित्त कुछ दान-पुण्य या श्राद्ध आदि किए जाते हैं, जिससे उसका देहाध्यास छूट जाए। इसका लक्षण यह होता है कि उसके निजी सम्बन्धियों के मन शान्त हो जाते हैं। **देहाभास में हम संसार में फँसते नहीं, देहाध्यास में फँसते हैं।**

लेकिन देहाभास रहने तक मुक्ति भी नहीं मिलती। देहाभास छूटने के लिए भस्माभास होना आवश्यक है।

जीवन-काल में देहाध्यास में हमें देह से इतना राग होता है कि देह की भस्मी, जो हमने देखनी नहीं है, उससे भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मोह होता है, जिसे **भस्माराग** कहते हैं। देह पर आधारित जगत से आपको राग होता है और उस सूक्ष्म-जगत को भी आपसे कम या अधिक, स्वार्थवश या स्नेहवश राग होता है। लेकिन आपकी देह का यह भविष्य, भस्मी जो निश्चित है, उसे आपसे कुछ लेना-देना नहीं है। भस्मी आपका भविष्य है लेकिन आप उसके अतीत नहीं हैं। भस्मी स्वयं में मात्र भस्मी है। भस्मी कालातीत, देशातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, धर्मातीत, लिंगातीत, कर्तव्यातीत, गुणातीत और तत्त्वातीत है। भस्मी किसी नाम-रूप की पाँच तत्त्वों की देह को नहीं पहचानती। वह किसी पद, नाम, प्रतिष्ठा, सम्बन्ध, देश-काल से सम्बद्ध नहीं है। लेकिन फिर भी जीवन में जिस प्रकार अपनी भौतिक सम्पदा की वसीयत के लिए हम चिन्तित होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मानव अपनी भस्मी से भी मोह रखता है। इस चिन्ता या राग को प्रत्यक्ष रूप से देखना हो तो किसी को कह कर देखिए कि मैं तुम्हारी राख गन्दे नाले में डलवाऊँगा, तो वह व्यक्ति क्रोधित हो जाएगा कि तुम मेरा अपमान क्यों कर रहे हो। जबकि भस्मी बनने पर उस भस्मी को कहीं भी डाल दिया जाए, वह अपमानित नहीं होती। विदेशों में अनेक भारतीय ऐसे हैं जो अपनी उस भस्मी की वसीयत कर देते हैं कि उसे भारत में ले जाकर गंगा या यमुना में प्रवाहित किया जाए। उसके लिए वह पृथक् रूप से कुछ धनराशि भी रख देते हैं।

देहाध्यास में राग से पीड़ित होने पर सद्गुरु-कृपा से जब जीव उस भस्मी को जीते जी धारण करता है, तो कुछ क्षणों के लिए **देहाध्यास** के स्थान पर **भस्माध्यास** हो जाता है। **भस्माध्यास** हुआ तो हमारा **देहाध्यास** कुछ देर के लिए हट गया जो रात को प्रगाढ़-निद्रा आने पर भी हट जाता है, मृत्यु, मूर्छा, विस्मृति में भी हट जाता है। **देहाध्यास** में हम

तनावित होते हैं, थकते हैं और फिर हम सोते हैं। मानसिक, शारीरिक, बौद्धिक विश्राम के लिए ईश्वर ने निद्रा नाम की परिस्थिति बनाई जिसमें हमारे मानस में **देहाध्यास** नहीं रहता और हम ऊर्जापूरित हो उठते हैं। फिर हम जागकर कुछ देर तक उस आनन्द में रहते हैं, लेकिन पुनः **देहाध्यास** में उन्हीं क्रिया-कलापों में जुट जाते हैं, जिनसे थक कर हम सोए थे। तो **देहाध्यास** से पीड़ा के कारण जीव, कृत्रिम उपायों से (नशा आदि करके), प्राकृतिक उपायों से (निद्रा) या दैवीय प्रकरणों से (ईश्वरीय भजन) देहाध्यास से रोज़ मुक्त होना चाहता है। कुछ क्षणों के लिए **देहाध्यास** के उन्मूलन के लिए **भस्माध्यास** अचूक उपाय है, जो मात्र सद्गुरु-कृपा से सम्भव है।

निद्रा में मुझे **देहाध्यास** नहीं होता, लेकिन मैं सोया रहता हूँ जबकि **भस्माध्यास** में भी **देहाध्यास** नहीं होता पर **'मैं** जाग्रत होता हूँ इसलिए मुझे शान्ति मिलती है, तनाव समाप्त हो जाता है। जिन लोगों से वैर-विरोध होता है उनसे प्रेम जाग्रत हो जाता है, ईश्वरीय अनुभूतियाँ होती हैं। **देहाध्यास** में जो मेरा ईश्वरीय-मन आच्छादित हुआ था, वह अनाच्छादित होकर निर्मल, शान्त, स्थिर हो जाता है। जैसेकि खौलते हुए तेल में सूर्य या चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अस्थिर और अस्त-व्यस्त सा बनेगा। जब वह शान्त हो जाएगा तो उसमें स्पष्ट प्रतिबिम्ब बनेगा। इसी प्रकार मेरा मन जो **देहाध्यास** के कारण उद्वेलित, विह्वल, अशान्त व अस्थिर था, वह **भस्माध्यास** होने पर कुछ देर के लिए नितान्त शान्त व स्थिर हो जाता है। उस शान्त मन में मुझे अपने सच्चिदानंद-स्वरूप के प्रतिबिम्ब की झलक मिलती है। **वह ही जीवात्मा की यानि मेरी जागृति है।** मेरी विशुद्ध **'मैं'** जाग्रत हो जाती है। देह ने अपनी सुषुप्ति में **'मैं'** की जागृति के लिए जो कुंजी रखी थी, उस कुंजी से देह का द्वार खुल जाता है।

आपका भस्माध्यास यदि परिपक्व हो गया है तो आपका मन शान्त हो जाएगा। आप वर्तमान में रहने लगेंगे। राग-द्वेष, वैर-वैमनस्य आदि समाप्त हो जाएँगे, देह से सम्बन्धित जगत के राग से आप छूट जाएँगे।

आपकी चारों ईश्वरीय बुद्धियाँ विवेक, मेधा, प्रज्ञा, ऋतम्भरा जाग्रत हो जाएँगी। आपको सत्संग में, महापुरुषों के सान्निध्य में रुचि हो जाएगी। लेकिन **'देहाभास'** नहीं जाएगा। क्योंकि देहाभास का उन्मूलन **'भस्माभास'** से होगा। **जब तक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आप स्वयं को या किसी को भी नाम-रूप की देह में देखते हैं, तब तक आपकी 'मैं' सुषुप्त ही रहती है।** लेकिन जब जीवन-काल में देह के रहते अपनी देह के अन्तिम भविष्य उस तत्त्वातीत तत्त्व **भस्मी** से आत्मसात् हो जाते हैं, तो आपकी नाम-रूप की मान्यता स्वयं समाप्त हो जाती है। मोह-निशा में सुषुप्त, मेरा स्वप्न टूट जाता है। आपकी मानसिक स्थिति सुषुप्ति वाली होती है, लेकिन आप जाग्रत होते हैं। **उस विशुद्ध 'मैं' अथवा जीवात्मा की जागृति में आप देहाध्यास से मुक्त हो जाते हैं और भस्माध्यास से युक्त हो जाते हैं।** इससे आपको उन क्षणों में नाम-रूप की सृष्टि से निजात मिल जाती है। लेकिन कुछ क्षणों के आनन्द की अनुभूति के बाद जैसे ही हम इस स्थिति से बाहर आते हैं, हमें **देहाभास** रहने के कारण पुनः **देहाध्यास** हो जाता है। यद्यपि बार-बार नित्याध्यासन करते-करते हमारी विचारधारा बदल जाती है। हमारी विवेक बुद्धि जाग्रत हो जाती है। ईश्वरीय चिन्तन होने लगता है। हमारी विह्वलता, उद्वेलन समाप्त हो जाता है। हमारे स्वभाव में शान्ति आ जाती है, जैसेकि एक अबोध शिशु स्वयं में शान्त, निर्मल व उदार होता है। लेकिन **देहाध्यास** पुनः जाग्रत हो जाता है, क्योंकि **देहाध्यास की जड़ या मूल आधार देहाभास नहीं जाता।**

देहाभास जो युगों-युगान्तरों से विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में रहा है, उससे मुक्ति मिले बिना यह कहानी समाप्त नहीं होती। मैं देह लेकर पैदा होता हूँ, देह लेकर सोता हूँ, देह लेकर उठता हूँ, बिना देह के भी स्वप्न में देह लेकर स्वप्न देखता हूँ, देह लेकर जीता हूँ, देह लेकर मरता हूँ, तो इस **देहाभास** का तोड़ मात्र **भस्माभास** है। **भस्माभास सत्य आभास है और देहाभास मिथ्या आभास है। अतः यदि एक क्षण के लिए भी भस्माभास हो गया तो युगों-युगान्तरों के देहाभास का मिथ्या किला एकदम ढह**

जाएगा। तो सद्गुरु बताता है, कि इसके लिए झोली पसार कर माँ जगदम्बा के द्वार पर बैठ जा कि–''माँ ! मुझे वैराग की अनुभूति तो हुई है, पर मेरी यह अनुभूति सिद्ध कर दे। मेरा वैराग परिपक्व कर दे। मुझे भीख दे दे, मैं कोई ज्ञान, ध्यान, तप व साधना नहीं कर सकता, मैंने कभी कुछ किया ही नहीं। बस मुझे तू भिक्षा दे दे'' :–

''ज्ञान, वैराग, सिद्धयर्थं भिक्षा देहु माँ पार्वती।''

क्योंकि **भस्माध्यास** से देहाध्यास तो छूट गया था, लेकिन **देहाभास** फिर भी रहा। **भस्माभास** के लिए आपको माँ जगदम्बा का प्रमाण-पत्र चाहिए। आखिर तो शिव की विभूति वैराग चाहिए। तो शिव की अर्द्धांगिनी ऐसे कैसे आपको लेने देगी? उससे भिक्षा लेनी पड़ेगी। एक क्षण के लिए माँ कृपालु हो जाए तो वह शिव की विभूत्यातीत विभूति **वैराग** देगी और आप शहंशाहों के शाह बन जाएँगे तथा हमेशा के लिए बने रहेंगे। लेकिन वहाँ किसी जप, तप, मन्त्र-तन्त्र से काम नहीं चलता। कोई ऐसी साधना नहीं है जो तुझे वैराग की सिद्धि दिला दे। सद्गुरु भी हाथ खड़े कर देता है, कि मैं कुछ नहीं कर सकता। बस तू आँखों में अश्रु लिए झोली पसार कर माँ से भिक्षा माँग। यदि माँ कृपालु हो जाए तो तुझे भीख मिल जाएगी, नहीं तो किसी जप, तप से तू उसे रिझा नहीं सकता। जप, तप से तुझे ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ दे देगी। अजर-अमर कर देगी लेकिन **वैराग** नहीं देगी। ईश्वर की भक्ति भी दिला देगी लेकिन अपने **'शिव'** तक पहुँचने नहीं देगी। उसकी कृपा की भिक्षा से **तेरा देहाभास छूट कर भस्माभास में रूपान्तरित हो जाएगा।**

भस्माभास जब होगा तो नाम-रूप में आपको **देहाध्यास** न होकर **भस्माध्यास** ही होगा। भस्मी का देह में प्रकटीकरण वैराग के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देने लगेगा। देना-लेना, खाना-पीना सब कुछ भस्मीमय हो जाता है। जिसे **भस्माभास** होगा उसे **भस्माध्यास** होगा। **भस्माभास** शिवत्व है, वह पाँच-तत्त्वों से अतीत है और जीवात्मा माया में लिप्त हुआ पाँच तत्त्वों द्वारा निर्मित संसार में। जीवात्मा पाँच तत्त्वों की देह के रहते जीवन-काल में जब

अपने उस अन्तिम निश्चित, परिलक्षित भविष्य **'भस्मी'** को धारण कर लेता है तो उस तत्त्वातीत तत्त्व भस्मी से आत्मसात् होने पर उसमें विभूत्यातीत विभूति शिव का वैराग प्रकट हो जाता है।

'भस्माध्यास' में (मैं भस्मी हूँ) भस्मी मात्र अवधारणा में रहती है प्रकट रूप से भस्मी नहीं होती। जीते जी अपने निश्चित, परिलक्षित भविष्य भस्मी से आत्मसात् होने का अर्थ यह नहीं है कि स्थूल भस्मी को लपेट लो, बल्कि वह मानसिक स्थिति निर्मित करनी है, कि मानों मैं भस्मी बन गया हूँ। तब वहाँ भस्मी नहीं रहती बल्कि सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति से परे विभूत्यातीत विभूति 'वैराग' प्रकट हो जाता है। आभास का अर्थ है कि हर वस्तु में उसीकी अनुभूति होना, तो **भस्माभास** होने पर **देहाभास** समाप्त हो जाता है। **इसी प्रकार जब भस्मी पूर्णतया अवधारणा में आ जाती है तो अपना स्थूल भस्मी रूप खोकर मात्र वैराग रूप में रह जाती है, जोकि ईश्वर की छठी विभूत्यातीत विभूति है। वैराग ही भस्मी है।** जब हमारी देह वास्तव में भस्मी बनती है तब हम नहीं होते। जब हम जीते जी उस भस्मी की अवधारणा करते हैं जो पाँचों तत्त्वों में निर्मित देह व सृष्टि के लय होने पर बनती है तो उस अवधारणा के परिपक्व होने पर वैराग प्रकट हो जाता है। चेतन भस्मी ही वैराग है।

भस्माभास होने पर भी जीवात्मा देह धारण करेगा, यदि ईश्वर चाहेगा तो। लेकिन फिर यह फँसेगा नहीं, यह खेलेगा। इसे कहा है—**लीला।** लेकिन यह समस्त प्रकरण कृपा-साध्य है। माँ जगदम्बा शक्ति की कृपा से जीवात्मा का **देहाभास, भस्माभास** में रूपान्तरित होगा। भस्मी, मायातीत, तत्त्वातीत तत्त्व है जो कभी नष्ट नहीं होती और जिसके माध्यम से पंच-महाभूतों का प्रकाट्य होता है, पंच-प्राणों की शक्ति द्वारा। पंच-प्राणों के पुंज के अंश रूप टिमटिमाती लौ जीवात्मा के साथ, शक्ति का प्रतिनिधित्व चुटकी भर भस्मी से होता है। तो शक्ति भस्मी के माध्यम से माया की रचना करती है। स्वयं में शक्ति निराकार है, शिव में छोटी **'इ'** रूप में समाहित है, कहीं आती-जाती नहीं। उसका साकार प्रकटीकरण भस्मी के माध्यम से

पंच-तत्त्वों में विभिन्न मायिक उपकरणों के रूप में होता है। ये पाँच तत्त्व उस तत्त्वातीत तत्त्व भस्मी से प्रकट होते हैं और उसी में लय हो जाते हैं। तो पाँच तत्त्वों की साकार मानव-देह का प्रारम्भ भी भस्मी से होता है और उसका लय भी भस्मी में होता है। **यह चेतन भस्मी ही सम्पूर्ण विभूत्यातीत विभूति वैराग और तत्त्वातीत तत्त्व है।** पाँचों प्राणों में से समान प्राण का प्रकाट्य है–**ऐश्वर्य और वैराग।** पाँचों विभूतियों का मूल वैराग है और पाँचों तत्त्वों का मूल **भस्मी** है।

जब ईश्वर एक से अनेक होकर खेलना चाहता है तो जीवात्मा के माध्यम से सृष्टि रचता है। भस्मी के बिना जीवात्मा नहीं है। जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है, उसी के समान ज्योति-पुंज है, परन्तु उसका आधार भस्मी है। सागर की एक बूँद बिना आधार के कैसे टिकेगी, नहीं तो वह सागर है। जीवात्मा एक बूँद के रूप में ईश्वर रूपी सागर में ही उदरस्थ है। वह बाहर नहीं निकलती। इसका जो बाह्य प्रकाट्य है, उसके लिए उसको एक विलग पहचान देनी पड़ती है। वह है चुटकी भर–**भस्मी।** तत्त्वातीत तत्त्व भस्मी स्वयं में वैराग भी है और पाँचों तत्त्वों का मूल भी है। इसी से पाँचों विभूतियाँ–सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति प्रकट होती हैं। इसी से पाँचों तत्त्व–पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश भी प्रकट होते हैं, जिनसे इनके विभिन्न अनुपातों के संगम से यह चर, अचर सृष्टि प्रकट होती है।

साकार सृष्टि के निर्माण से पहले ईश्वर साकार रूप लेता है। वह देहातीत देह होती है। जीवात्मा कहीं आता-जाता नहीं है। वह ईश्वर के मानस में ही रहता है। वहीं से Project होता है, माया में, जिस प्रकार स्वप्न का दृष्टा कहीं आता-जाता नहीं। जिस बिस्तर पर सोता है, उसी से उठता है। जीवात्मा को भी एक भूमिका उस सम्पूर्ण स्वप्न-सृष्टि में मिलती है तो उसकी धुरी पर वह सम्पूर्ण सृष्टि केन्द्रित होती है। विभिन्न दृश्य उसके रूपान्तर हैं। **जीवात्मा, एक जीव की नाम-रूपात्मक देह में उसका केन्द्र होता है। एक से अनेक बनता है और अनेकों में एक वही होता है। वह**

जीवात्मा जीव कब बना, जब इसने उस भूमिका को अपना स्वरूप समझ लिया, कि 'मैं यह हूँ'। एक भूमिका के बाद दूसरी भूमिका मिली तो इसने समझ लिया कि अब 'मैं यह हूँ'। एक जीवात्मा की एक जीव के रूप में ही यह सम्पूर्ण प्रस्तुति होती है। जब यह अपने मूल भस्मी में पहुँचता है तो उस तत्त्वातीत तत्त्व भस्मी में पहुँचते ही विभूत्यातीत विभूति **वैराग** प्रकट हो जाता है और यह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तथा सम्पूर्ण प्रस्तुति इसके लिए लीला हो जाती है।

पाँचों तत्त्वों में जो भी निर्माण, पालन और संहार होता है, वह समस्त विभूतियों सहित होता है। जब जीवात्मा अपने इस मूल में स्थित हो जाता है तो उसे जीव भाव से छुटकारा मिल जाता है। फिर वह लीला में खेलता है। यदि भस्मी नहीं होगी तो प्रकटीकरण नहीं होगा। वह ज्योति, ज्योति में लीन हो जाएगी, यह **कैवल्य मोक्ष** है। यह आवागमन भी एक भ्रम है, जो है ही नहीं, मात्र उसका आभास होता है और यह आभास ही **देहाभास** है। जीवात्मा **देहाभास** में महसूस करता है, कि आवागमन है। माँ महामाया की कृपा से **भस्माभास** होते ही जीव अपने मूल **भस्मी** में पहुँच जाता है और वहीं से सम्पूर्ण लीला की प्रस्तुति देखता है।

ईश्वर ही दृश्य है, वही दृष्टा भी है। **जीवात्मा तो बस इसका प्रतिनिधि है,** जो सम्पूर्ण दृश्यमान सृष्टि की वाह-वाह करता है। ईश्वर जीवात्मा के माध्यम से द्वैत में एक से अनेक होता है, खेलने के लिए। जीवात्मा को चाहिए था कि इस द्वैत विचरण में भस्मी से जुड़ा रहता, अपने ऊपर कुछ न लेता। जो भी देह ईश्वर ने इसके लिए दी उसके लिए सम्पूर्ण सृष्टि स्वतः प्रकट होती रहती है। यह रहस्य आत्मसात् हो जाए तो हमें सम्पूर्ण असमानता में समानता नज़र आएगी, क्योंकि दिखाने वाला ईश्वर है। एक ही देह में जितने अंग हैं सबका कार्य पृथक्-पृथक् है। मात्र चेहरे पर पाँचों महाभूतों का प्राकाट्य पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के रूप में है, जिनका पृथक्-पृथक् कार्य है। एक ही चेतना जो आँखों में देखती है, वही कानों में सुनती है। यह असमानता में समानता है। यह चेतना ही पंच-प्राणों की

टिमटिमाती हुई लौ है और पंच-तत्त्वों के **प्रकटीकरण में विभिन्नता का प्राकाट्य भस्मी रूप में वैराग से होता है और जब पाँचों तत्त्व लय होते हैं तो भस्मी प्रकट होती है।** विलय के साथ भस्मी प्रकट होती रहती है और उस भस्मी के माध्यम से पंच-प्राणों की शक्ति द्वारा पुनः सृष्टि प्रकट होती रहती है। **यह प्रकटीकरण, संचालन और लय ही 'शिव-शक्ति' की क्रीड़ा है।**

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(28, 30 जुलाई व 4 अगस्त 2005)

इन्द्रिय-निग्रह

इन्द्रिय-दमन अप्राकृतिक एवं अस्वाभाविक है। हमारी इन्द्रियों की अपनी एक प्रकृति है। अतः उनका दमन न करके निग्रह किया जाए। यह निग्रह क्या है? निग्रह की एक आध्यात्मिक व वैज्ञानिक तकनीक है। **निग्रह तब होगा जब पाँचों महाभूतों की प्रतिनिधि इन ज्ञानेन्द्रियों को आनन्द से जोड़ दिया जाए।** यदि इनका अप्राकृतिक रूप से दमन किया जाएगा तो इनका सन्तुलन अस्त-व्यस्त हो जाएगा। काम वश में किया, तो क्रोध बढ़ गया, क्रोध का दमन किया, तो लोभ बढ़ गया। इसी प्रकार नेत्रों को मन-पसन्द दृश्यों, कानों को सुमधुर संगीत, त्वचा को कोमल स्पर्श, नाक को मोहक गन्ध तथा जिह्वा को स्वाद तथा विभिन्न व्यंजनों के रसों से वंचित किया तो देह की सम्पूर्ण कार्यप्रणाली ही अस्त-व्यस्त हो जाती है। **इन्द्रिय-दमन से साधक को थोड़ी बहुत एकाग्रता प्राप्त हो सकती है, फिर भी इस प्रकार का हठयोग अनेक समस्याओं के रूप में ही प्रतिफलित होता है।**

इन्द्रियाँ हमारी देह का अंग हैं।ऽदेह सीमित है और देह की शक्तियाँ भी सीमित हैं। **आनन्द असीम है और वह हमारी ही कारण-देह है।** प्रत्येक इन्द्रिय-सुख की एक सीमा होती है। **इन्द्रियों के सुख लेते हुए उस सीमा तक पहुँचने से पहले इन्हें आनन्द से जोड़ना होगा।** इन्द्रियों को भी उस आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए, नहीं तो ये विकराल रूप धारण कर लेती हैं और आपको अवसाद और निराशा में ले जाती हैं। **देह में इन्द्रियों के द्वारा जो सुख प्रकट होता है, उसके पीछे एक दर्शन है कि आपको अपने**

आनन्द-स्वरूप का ज्ञान हो जाए। आप सोचने पर बाध्य हो जाएँ कि कल जिन पदार्थों को भोगने में आनन्द आया था, आज क्यों नहीं आ रहा? पदार्थ भी वही हैं, इन्द्रियाँ भी वही हैं, मैं भी वही हूँ, कारण क्या है? किसी ने बताया कि आज तुम्हारा मूड खराब होगा, तब समझ में आया कि मेरा अपना आनन्द ही है, जिसके अभाव में मैं समस्त सुख-साधनों और स्वस्थ इन्द्रियों के होते हुए भी सुख नहीं ले पाता।

सुख केवल देह तक सीमित है। सुख इन्द्रियों का विषय है। **आँख, नाक, कान, त्वचा, जिह्वा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भौतिक हैं और क्रमशः अग्नि, पृथ्वी, आकाश, वायु व जल पंच-महाभूतों की प्रतिनिधि हैं। ये पाँचों तत्त्व क्रमशः प्राण, समान, व्यान, अपान एवं उदान पंच-प्राण-पुंज, ज्योति-स्वरूप, अदृश्य, निराकार हमारे सच्चिदानंद ईश्वरीय-स्वरूप का बाह्य प्राकट्य है। इन पाँच प्राणों की छाया है।** मानव-देह में इनकी प्रतिनिधि हैं ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जो मानव के चेहरे पर हैं। इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हम सुख लेते हैं। इनके संचालन, पालन और समाहन के नेपथ्य में जो प्राण-शक्ति है, वह स्वयं सच्चिदानंद ईश्वर है। इसका प्रमाण है कि एक शव समस्त ज्ञानेन्द्रियों एवं सुख-साधनों के होते हुए भी उस प्राण-शक्ति के अभाव में देख, सुन, चख, सूँघ और स्पर्श नहीं कर सकता। हम मानव इस सत्य को भूल जाते हैं अथवा उपेक्षित कर देते हैं। जैसेकि बिजली के अनेक उपकरण व सुख-साधन ए. सी., हीटर, बल्ब, कूलर आदि हों, लेकिन विद्युत-धारा के प्रवाह के बिना इनका कोई अर्थ नहीं है। इसी प्रकार **समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ मानो उपकरण हैं और वह प्राण-शक्ति, विद्युत-धारा है जो दिखाई नहीं देती, लेकिन विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के जरिए उसका प्राकट्य सुखों के रूप में होता है।**

हम इन्द्रियों के सुख के लिए आजीवन सुख-साधन एकत्रित करते हैं और यह भूल जाते हैं कि इन्द्रियों के पास अपना सुख नहीं है। सुख के लिए इन्हें प्राण-शक्ति चाहिए। सच्चिदानंद ईश्वर का आनन्द चाहिए, जो अदृश्य है। आनन्द और सुख दोनों ही अदृश्य होते हैं। इनका अनुभव किया जा

सकता है। सुख-साधन और इन्द्रियाँ दृश्यमान हैं। यदि आनन्द का प्रवाह अबाध रूप में हो तो इन्द्रियाँ सुख-साधनों से सुख देती हैं। **सुख लेते समय प्राण-शक्तियाँ इतनी एकत्रित हो जाती हैं कि सुख-साधन छोड़कर आप अपने आनन्द-स्वरूप में प्रविष्टि पा सकते हैं।** अब यहाँ आपने इन्द्रियों को सुख-साधनों से वंचित किए बिना उन्हीं का सहारा लेकर अपने आनन्द की अनुभूति की। इस आनन्द की अनुभूति के सम्मुख इन्द्रियों का सुख अति तुच्छ प्रतीत होने लगता है और इन्द्रियाँ भी सम्मानित होकर आनन्द से जुड़ जाती हैं। यही **इन्द्रिय-निग्रह** है। इन्द्रिय-दमन से यह साधना कहीं अधिक कठिन है। सम्पूर्ण प्रकरण कृपा-साध्य है। यह प्राकृतिक है और केवल मानव ही कर सकता है।

ईश्वर ने मात्र चेहरे पर ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ रखीं और इनकी अपनी-अपनी कार्यप्रणाली तथा अलग-अलग विषय हैं। जिह्वा स्वाद देती है, लेकिन देख, सुन, व सूँघ नहीं सकती। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों का ही सुख दे सकती हैं। समस्त विषयों, साधनों और इन्द्रियों की सुख-संवेदना एक ही है। आपने कुछ स्वादिष्ट पदार्थ खाए तो आपके मुँह से निकला वाह ! मज़ा आ गया। कोई सुन्दर दृश्य देखा अथवा संगीत सुना या कोई पारिजात आदि की सुगन्ध ली और कहा, वाह ! आनन्द आ गया। **यह आनन्द कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि उन सुख-साधनों और ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क से प्राण-शक्ति के प्रवाह के कारण प्रकट हो जाता है।** तो आनन्द भी एक है और सुख भी एक ही है। ज्ञानेन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् हैं। जीभ का सुख लेना है तो आपको संगीत नहीं चाहिए, कानों का सुख रसमलाई से नहीं आएगा। इसी प्रकार कोई सुन्दर दृश्य हमारी नाक को और सुगन्ध हमारे नेत्रों को सुख नहीं दे सकती।

इसलिए ज्ञानेन्द्रियाँ पृथक् हैं एवं उनकी संवेदना भी पृथक् है। **विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियों को विशिष्ट साधन चाहिएँ, सुख देने के लिए। लेकिन वह सुख एक ही है।** एक मित्र बहुत प्रसन्न थे, पूछा कि क्या बात है तो बोले कि बहुत मधुर संगीत सुना है, दूसरे ने कहा कि मैं भी बहुत आनन्द में हूँ, अभी

रसमलाई खाकर आया हूँ। **उस एक ही सुख के लिए हम पाँच ज्ञानेन्द्रियों का सामान एकत्रित करने लगते हैं।** साधनों से सुख लेने की एक सीमा है। संगीत कितना सुन सकते हैं! अति हो जाने पर सिर में दर्द हो जाता है। सुख देने वाली इन्द्रियों की क्षमता भी सीमित है, सुख की भी एक सीमा है और सुख-साधन भी कभी उपलब्ध होते हैं, कभी नहीं होते। पहले दिन सुख लिया था तो आज फिर वही सुख आप क्यों चाह रहे हैं? पहले दिन तो आपने वे पदार्थ होते हुए भी हटा दिये थे कि और नहीं चाहिए तो आज फिर वही पदार्थ क्यों चाहिए? आज फिर सुख लेकर पदार्थ हटा दोगे, चार दिन बाद फिर कहोगे कि पुनः चाहिए। क्यों? ये प्रश्न स्वयं से करने अति आवश्यक हैं।

सुखों की स्मृति मुझमें बार-बार वही सुख लेने की चाहत जगाती रहती है। इसीलिए हम कुछ चाहते हैं, बार-बार चाहते हैं, लेकिन क्या चाहते हैं, यह हम जानना नहीं चाहते। **हम अपनी वास्तविक चाहत को ही जानना नहीं चाहते, लेकिन चाहते बहुत कुछ हैं और चाहते ही रहते हैं।** चाहते-चाहते जीते हैं और चाहते-चाहते मर जाते हैं तथा उसी चाहत में पुनः पैदा होते हैं और फिर कुछ न कुछ चाहने लगते हैं। यह चाहत ही आसक्ति बन हमें भटकाती रहती है। काश! यह हो जाता, यह भी मिल जाता, लेकिन हम अपनी चाहत को जानना नहीं चाहते। **जब तक चाहत की चाहत का ज्ञान नहीं होगा कि मैं क्यों चाहता हूँ, आपकी चाहत ही आपको ले डूबेगी।** आप जीवन में बहुत चाहते हैं, लेकिन क्यों चाहते हैं? आपकी चाहत वस्तुओं में नहीं है। चाहत वस्तुओं की होती तो वस्तुओं के मिलने पर चाहत समाप्त क्यों नहीं होती? आप कुछ चाहते हैं, वह मिलने पर कुछ और चाहने लगते हैं, तो यदि आपकी वास्तविक चाहत वस्तुओं की होती तो वस्तुएँ मिलती हैं, वस्तुएँ समाप्त हो जाती हैं, लेकिन चाहत तो समाप्त नहीं होती। हमें चाहत बनी रहती है, क्योंकि **मेरी चाहत 'मुझे' चाहती है, मैं देह नहीं, मैं जीवात्मा।** उसे मैं वस्तुओं से संतुष्ट नहीं कर सकता। **जब तक मुझे स्वयं अपना दीदार नहीं होगा तब तक मेरी चाहत संतुष्ट नहीं हो सकती।**

चाहत मेरी है, इसलिए मुझे चाहती है। वस्तुएँ मिल के चली भी गईं और भी मिलती रहीं, बनती-बिगड़ती रहीं, लेकिन चाहत फिर भी ज्यों की त्यों बनी रही। अपने नाम-रूप की देह से स्वयं को पहचान कर मुझे भ्रम हो गया कि मेरी चाहत, स्त्री, सन्तान, धन-सम्पदा, डिग्रियाँ, प्रतिष्ठा, नाम, यश आदि वस्तुओं की है। **लेकिन आपकी जो वास्तविक चाहत है, उसके लिए कुछ नहीं चाहिए। क्योंकि आपकी वास्तविक चाहत है 'आनन्द'**, जो आपका अपना ही स्वरूप है और उसके लिए आपको कुछ नहीं चाहिए। फिर सुख-साधनों के लिए धक्के कौन खाएगा ! अपने मनोविज्ञान को स्वयं समझने का प्रयास कीजिए। अपने साथ बैठिए, आत्म-विश्लेषण करिए। आप आश्वस्त हो जाइए कि आनन्द **अभावमय** होता है, वहाँ कुछ नहीं होता। **सुखों की स्मृति वृद्धावस्था में इन्द्रियों के शिथिल होने, रुग्ण होने अथवा उनकी क्षमता समाप्त होने पर निराशा में ले जाती है।** वृद्धावस्था में चिड़चिड़ेपन व तनाव का मुख्य कारण यही होता है, कि सुखों की स्मृति दुःख बन जाती है।

आनन्द के लिए कुछ नहीं चाहिए। **आनन्द के सम्पर्क से जो इन्द्रियाँ हमें सुख देती हैं, उन्हीं इन्द्रियों का हम आनन्द के लिए बाध करते हैं।** ध्यान के समय आँखें, कान बन्द कर लेते हैं, जिह्वा का भी कोई स्वाद नहीं लेते, त्वचा से स्पर्श नहीं करते और नाक से कुछ सूँघते नहीं है। आनन्द की अनुभूति के लिए हम इन्द्रियों के द्वार बन्द कर देते हैं। जिन इन्द्रियों के सुखों के लिए साधन एकत्रित करने के लिए हम सारा जीवन भागते हैं, उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों का बाध करके हम सीधे अपने आनन्द-स्वरूप (अभावमय आनन्द) में प्रविष्ट करने के लिए समाधिस्थ होते हैं। क्योंकि आनन्द देहातीत है, सुख देह का है। सुख और सुख-साधनों की सीमा है और इन्द्रियों के सुख लेने की क्षमता भी सीमित है।

मेरा आनन्द-स्वरूप, मेरी कारण-देह अविरल है। वह अजर, अमर, अदृश्य, अकाट्य, देहातीत व शाश्वत् है तथा जो सुख मैं लेना चाहता हूँ वह नश्वर देह का है, जो सीमित है, जन्म-मृत्यु के सहित है। अदृश्य कारण-देह

सबकी एक है और पाँच-तत्त्वों से निर्मित देह पृथक्-पृथक् हैं। इन पाँच-तत्त्वों की देह का पंच-महाभूतों में जब विलय होता है तो अवशेष भस्मी भी सबकी एक है। देह के माध्यम से इन्द्रिय-जनित जो सुख मिलता है, वह सुख भी एक ही है। **आनन्द एक है, सुख एक है। आनन्द असीम है, सुख सीमित है। साथ ही सुख के लिए सुख-साधन भी चाहिएँ और स्वस्थ ज्ञानेन्द्रियाँ भी तथा उनकी भी सुख देने की क्षमता सीमित हैं।** तो हम बार-बार एक ही सुख क्यों चाहते हैं? इसका कारण **यह है कि हम कुछ ढूँढ रहे हैं, जो हमें किसी भी सुख-साधन में नहीं मिलता।** हम सुख-साधन बदलते रहते हैं, लेकिन वह चीज़ नहीं मिलती जिसके लिए हम भटकते हैं। हम मकान, सम्बन्धी, मित्र, कपड़े व गहने आदि बदलते रहते हैं, लेकिन तृप्ति नहीं होती। हम इसका कारण जानने का प्रयास भी नहीं करते और चीज़ों व पदार्थों में परिवर्तन करते रहते हैं। इसी में हम जीवन व्यर्थ, निरर्थक और नकारात्मक बिताकर आसक्तियों को लेकर मरते रहते हैं और पुनः पैदा होकर उसी श्रृंखला में पुनः भटकते रहते हैं।

हमारा जीवन इस प्रकार व्यर्थ बरबाद हो जाए तो भी कोई बात नहीं, लेकिन मानव-देह प्राप्त करने के बाद इस प्रकार जीवन व्यर्थ करने की सज़ाएँ मिलती हैं। ईश्वर हमें नाली का कीड़ा बनाकर गन्दी नाली में फेंक सकता था। उसने मानव-देह दी है जोकि एक दिव्य घटना है। इसे आप ऐसे उपेक्षित करेंगे तो दैवीय संस्थान पक्के केस चलाते हैं। आप न जी पाते हैं और न ही मर पाते हैं। दैवीय संस्थान मानव-देह देकर और उसके लिए हवा, पानी, सूर्य, चन्द्र आदि सारे प्रबन्ध करके आपको इस प्रकार जीवन व्यर्थ बरबाद कैसे करने दे सकते हैं! हवा, पानी, सूर्य, चन्द्र किसी का कोई टैक्स ईश्वर नहीं लेता, इसलिए कई प्रकार के दैवीय मुकदमे चलाए जाते हैं। परिणामस्वरूप सुख-साधन बहुत हो जाते हैं, लेकिन सुख नहीं मिलता।

और-और क्यों चाहते हैं, क्योंकि कोई ऐसी चीज़ है जो शाश्वत्, अविरल और अकाट्य है, लेकिन हमें नहीं मिल पाती। वह है मेरा **आनन्द-स्वरूप** जो कि अदृश्य है – ***'सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम्***

शिवोऽहम्।' अब यहाँ पर एक दोराहा आ जाता है, कि मैं **आनन्द में** सुख ले रहा हूँ कि **आनन्द के लिए** सुख ले रहा हूँ। इन्द्रियाँ सुख लेने के लिए हैं, इनके सुख पर आपका जन्मसिद्ध अधिकार है। पर आप **आनन्द के लिए** सुख ले रहे हैं या **आनन्द में** सुख ले रहे हैं, इसका आपको ज्ञान होना परमावश्यक है। **सुख लेने वाला मैं हूँ, आनन्द-स्वरूप मेरा अपना है। यदि मैं आनन्द के लिए सुख ले रहा हूँ तो इससे बड़ी मूर्खता क्या होगी। मुझे वे इन्द्रियाँ क्या आनन्द देंगी जो स्वयं मेरे आनन्द से उधार लेकर सुख के रूप में मुझे दे रही हैं, जोकि सीमित हैं और सुख-साधनों पर निर्भर हैं। यदि मेरा आनन्द-स्वरूप न होता तो इन्द्रियाँ सुख कहाँ से लेतीं। आनन्द मेरा है तो सुख भी तो मेरा ही है।** सुख मेरी स्थूल-देह का है और आनन्द मेरी कारण-देह का है। जब मैं केवल सुखों तक सीमित रहता हूँ तो और-और सुख लेने के लिए स्थूल-देह का विस्तार करता हूँ। वह है मेरा **सूक्ष्म-जगत।** सम्बन्धों का, धन-सम्पत्ति का, पद-प्रतिष्ठा, समाज व परिवार में नाम व यश का, जीवन-स्तर का, विभिन्न शक्तियों का आदि-आदि। दृश्यमान का विस्तार होता ही जाता है। इस प्रकार स्थूल-देह का विस्तृत सूक्ष्म जगत बन जाता है जो इसके आनन्द-स्वरूप को उत्तरोत्तर और-और आच्छादित करता रहता है।

आपको आश्वस्त हो जाना चाहिए कि आप **आनन्द के लिए** यह सब कर रहे हैं या **आनन्द में** कर रहे हैं। यदि आप आनन्द के लिए सुख ले रहे हैं तो आप इतना ही ले पाएँगे जितना इन्द्रियाँ आपके आनन्द-स्वरूप से ले पाएँगी। इनकी सीमित क्षमता के कारण आपके अपने असीम आनन्द से यह आपको उतना ही सुख लेकर दे सकती हैं, जितनी इनकी हैसियत है। उतने के लिए भी सुख-साधन मेरी पसन्द के होने चाहिए और मेरी इन्द्रियाँ स्वस्थ भी होनी चाहिए तथा आनन्द का अबाध प्रवाह भी अपेक्षित है। **मेरा तो स्वरूप ही आनन्द है।** कोई राजकुमार अपने सेवकों से जिनका वह आश्रयदाता है, वह स्वयं उनसे आश्रय व सुख-साधन माँगने लगे तो मूर्ख ही तो कहा जाएगा ! मेरे आनन्द से ये इन्द्रियाँ सुख लेती हैं और मेरे मनोरंजन

के लिए मेरी सेवा में रहती हैं।

यदि आप **आनन्द में** सुख लेते हैं तो इन्द्रियाँ आपको भरपूर सुख देती हैं, लेकिन फिर भी सेविका बनी रहती हैं। आप उन्हें सम्मान देते हैं कि चलो तुम भी थोड़ा सा अपना करिश्मा दिखा दो। **देह को और इन्द्रियों को कभी भी योगी अपने और इष्ट के मध्य नहीं आने देता।** जब आप आनन्द के लिए सुख लेते हैं तो ये इन्द्रियाँ आपको अपना दास बना लेती हैं। हम नहीं जानना चाहते कि हम बार-बार एक ही सुख विभिन्न सुख-साधनों और विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से क्यों लेना चाहते हैं। **क्योंकि जो आनन्द मैं चाहता हूँ, वह अभावमय है और मेरा अपना है तथा वहाँ पर चाहत ही कुछ नहीं रहती।** जिनकी पहले आपको चाहत थी, वे सुख-साधन आपको चाहकर आपके चरणों में आ जाएँगे, क्योंकि आपने उन्हें छूकर सुख देने वाला बना देना है। क्योंकि आनन्द तो आपका अपना है जिससे सुख उधार लेकर इन्द्रियों ने देना है। आप किसी कुत्ते को हड्‌डी चबाते ध्यान से देखिए। हड्‌डी के चबाने से उसके मसूढ़ों व जबड़े से जो रक्त-प्रवाह होने लगता है, कुत्ता समझता है कि वह हड्‌डी में से उसे मिल रहा है। इसलिए वह हड्‌डी नहीं छोड़ता। स्वाद उसे अपने रक्त का आ रहा है। इन्द्रिय-लोलुप सुख के इच्छुक आश्वस्त हो जाएँ कि जो भी इन्द्रियों का सुख है, वह उन्हें उनके अपने आनन्द से मिल रहा है। **न तो सुख, सुख-साधनों में है, न इन्द्रियों में**ः–

'नशा शराब में होता तो नाचती बोतल।'

वास्तव में देह हमें मात्र इसीलिए मिली है, कि इसके माध्यम से अपने उस अदृश्य आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति करके देह में उसका सदुपयोग करें। **यदि आप देह से अनुभूत किए सत्यों का देह में सदुपयोग नहीं करेंगे तो देह आपको अभिशप्त कर देगी।** आपको परम सत्य की अनुभूति भी **देह से** ही होगी तो उसका सदुपयोग भी **देह में** होना चाहिए। यह देह ही महापुराण है। यह मानव-देह ईश्वर की विलक्षणतम्, भव्यतम् व चमत्कारिक **सुकृति** है, जो निर्विकार है। आपने काम, क्रोध, लोभ, मोह व अहं आदि को

विकृतियाँ क्यों मान लिया? यह तो ईश्वर की दी सुकृतियाँ हैं। इनका सदुपयोग हम अपने स्वरूप की अनुभूति के लिए कर सकते हैं। ये आपकी विशिष्ट प्रतिभाएँ हैं, दिव्य उत्प्रेरक हैं, जो आपको, आपके इष्ट से मिला देते हैं। सुकृति, विकृति कब बनी? **जब आपने देह में देह के सुख के लिए उनका दुरुपयोग किया।** देह ईश्वर की **प्रकृति** का अंग है। **प्रकृति–पर+कृति, ईश्वर की कृति है, उसी की है।** जब हमने इसे अपना मान लिया तो हमने इसे विकृति बना दिया। हमने अनधिकृत कब्ज़ा करके पूरी देह को ही विकृत कर दिया।

ये इन्द्रियाँ आनन्द में ले जाने के लिए थीं, यदि इन्द्रियों का सुख न होता तो कदाचित् हमें अपने आनन्द-स्वरूप की धारणा ही न होती। ईश्वर की सम्पूर्ण प्रकृति मात्र मेरे लिए थी। यह सूर्य की लालिमा, चन्द्रमा की चाँदनी, यह मलयानिल, त्रिविध समीर, वसुन्धरा के विविध स्वरूप, खग, मृग, तृण, तरु, पल्लव वृन्द, ये सब मेरे मनोरंजन के लिए थे। लेकिन मैं स्वयं अपना परिहास करके पुनः पुनः देह का अपमान करके जन्मता, मरता रहता हूँ। मुझे आनन्द में रहना था, आनन्द में सुख लेना था। ईश्वर ने मुझे आनन्द में रखने की सम्पूर्ण व्यवस्था की थी। लेकिन मैं उस आनन्द को भूलकर देह के उन सुखों में भटकने लगा, जो उस आनन्द की मात्र छाया थे। **यह सुख आनन्द की अनुभूति के अभाव में तथाकथित सुख ही होता है** लेकिन कालान्तर में सुख-साधनों का अभाव, इन्द्रिय क्षमता क्षीण होने अथवा रुग्ण होने पर उन सुखों की स्मृति दुःख बन जाती है। **यह दुःख तथाकथित दुःख नहीं होता।** दुःख यथार्थ रूप से पक्का होता है, जो हमें न जीने देता है न मरने देता है। इन्द्रियों से कितना सुख ले सकते हैं! क्योंकि सुख की पराकाष्ठा पर आनन्द आच्छादित हो जाता है और इन्द्रियाँ अशक्त होकर सुख देने से इन्कार कर देती हैं। सारा जीवन हम अपने आपको और-और की चाहत में, और मूर्ख बनाने में निरर्थक व्यर्थ कर देते हैं। अतः ईश्वर आपको पशु-योनि दे देता है कि यदि यह मनुष्य देह लेकर भी पशु है तो मैं इसको पशु क्यों न बनाऊँ। यह देखने में भी मनुष्य क्यों लगे?

चौबीस घण्टे का जो दिन है, उसमें एक घण्टा अपने आनन्द स्वरूप के दिग्दर्शन के लिए अवश्य देना चाहिए। **उस एक घण्टे में एक क्षण मात्र के लिए भी यदि आपको अपने आनन्द-स्वरूप का स्पर्श मिल गया तो आप परम सौभाग्यशाली हैं।** फिर शेष 23 घण्टे आपके आनन्द में बीतेंगे, क्योंकि फिर सुख-साधन आपका स्पर्श पाकर धन्य हो जाएँगे। आपको महल और झोंपड़ी दोनों में समान आनन्द की अनुभूति होगी। जो अन्ततः आपको सुख-साधनों के सुख से मिलना है, वह तो आपको मिल ही गया। अन्ततः आपको आनन्द ही तो चाहिए, फिर देह में उसका सदुपयोग करें कि प्रभु ! जो कुछ करा रहे हो, कर रहे हो, वह सब बहुत आनन्दमय है। व्यास-गद्दियों से बार-बार कहा गया है कि जो मिलता है उसमें संतुष्ट हो जाना चाहिए कि:–

'जाहि विधि राखे राम, ताहि विधि रहिए।'

पर यह कैसे हो, संतुष्टि कैसे मिले? यह अपने में साधना है और कृपा-साध्य है। जब आपको अपने उस परमानंद की अनुभूति हो जाएगी तो आपको संतुष्टि मिल जाएगी। संतुष्टि कोई मानवीय गुण नहीं है, कहीं बाज़ार में नहीं मिलती। **अपने आनन्दमय स्वरूप का निमिष मात्र के लिए भी यदि दिन में एक बार स्पर्श मिल जाए तो उसके बाद आप सन्तुष्ट ही हैं।** जो मिल जाए तो ठीक, जो न मिले तो और भी बढ़िया। उसके बाद इन्द्रियों के सुख आपके लिए स्वतः ही तुच्छ हो जाएँगे। निराशा और अवसाद में भी इन्द्रिय-सुख लेने की इच्छा नहीं होती, क्योंकि आपका आनन्द खो जाता है। इसलिए कोई सुख महसूस ही नहीं होता। **वैरागमयी मनःस्थिति में ईश्वर के साथ जुड़कर आप इतने आनन्दित होते हैं कि इन्द्रिय-सुख का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है।** लेकिन जब आप अपने आनन्द की अनुभूति कर लेते हैं तो वस्तुओं और सुख-साधनों का प्रकाट्य स्वतः प्रारम्भ हो जाएगा तथा आपको उनकी कोई चाहत भी नहीं होगी। ईश्वर की सृष्टि में प्रक्रिया (PROCESS) नहीं है, बल्कि प्रकाट्य है।

जब हम उसके चरणों में आ जाते हैं, उसकी अनुभूति कर लेते हैं तो

हमें कुछ नहीं करना पड़ता। सब कुछ स्वतः हमारे लिए प्रकट होता रहता है। **जिसके लिए वस्तुएँ बनी बनाई मिलती हैं, उसके लिए प्राकट्य है। जो बनाने में लगा रहता है, उसके लिए प्रोसैस है। जितना आप ईश्वर के निकट जाएँगे, आपके लिए सब कुछ प्रकट होगा।** ईश्वर ने हमें यह प्राकट्य दिखाया है। नौ महीने माँ के गर्भ में क्या-क्या होता रहा ! हमारे लिए तो हमारी देह प्रकट हुई, माँ-बाप, घर-परिवार सब कुछ स्वतः बने-बनाये मिले। वह स्कूल, वहाँ के अध्यापक जहाँ हम पढ़े, वह सब बना-बनाया मिला। हमारे लिए प्रकट हुआ, अन्य सब कुछ भी यदि हम बुद्धि न लगाएँ तो हमारे लिए प्रकट होता रहता है।

जब आप अपने आनन्द-स्वरूप की अनुभूति कर लेंगे तो समस्त सुख-साधन और उनका सुख आपके चरणों में आ जाएगा। यह संकर्षण है। कृष्ण का एक नाम संकर्षण भी है। संकर्षण जिसे छू ले, वह सबको अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। कृष्ण ने कुब्जा को छूकर उसे परम सुन्दरी बना दिया। जिसे छू दिया उसे आकर्षण का हेतु बना दिया। आप भी ऐसे ही हो जाते हैं। इन्द्रियाँ आपकी चेरी बनी रहती हैं। क्योंकि जहाँ से वे आपको सुख लेकर देती हैं, उस आनन्द में आप इन्द्रियों का बाध करके जीते हैं और आप आनन्द में इन्द्रियों का सुख लेते हुए व उन्हें सम्मान देते हुए उनका सुख-भोग भी आनन्द में ही करते हैं। वास्तव में यही राजयोग है, यही इन्द्रिय-निग्रह है, जो प्राकृतिक एवं स्वाभाविक है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(5 एवं 8 अगस्त 2005)

मानस और बाह्य जगत

तीर्थ-यात्रा, दान-पुण्य, जप-तप, यज्ञ-हवन, चिन्तन-मनन, प्राणायाम, स्वाध्याय, सत्संग, कीर्तन-भजन, नृत्य, गायन व संगीत आदि जितने पुरुषार्थ कर्म हैं, उनसे हमारा मानस प्रभावित होता है। मानस ईश्वर-तुल्य सौन्दर्यवान, ज्ञानवान, ऐश्वर्यवान, सशक्त, ख्यातिवान व वैरागवान हो जाता है। हमें ईश्वर से जुड़े होने की अनुभूति हो जाती है। इसलिए जो भी बाह्य प्रकाट्य होता है, उसका हम आनन्द लेते हैं। मानस यदि ईश्वरीय नहीं होगा और किन्हीं प्रक्रियाओं द्वारा बाह्य जगत में हम कुछ प्राप्ति भी कर लेंगे तो भी वह प्राप्ति भीतरी मानसिक प्रकाट्य न होने के कारण आपके दुःख व तनाव का हेतु बनी रहेगी। यदि कुछ प्राप्त न कर पाएँ तो तनावित व निराश रहेंगे, कि 'मैं' असफल और दुर्भाग्यशाली हूँ।

आपको बाह्य जगत में किसी भी पदार्थ व साधन की आवश्यकता तभी होगी जब आप मानसिक रूप से अभावग्रस्त होंगे। यदि आपका मानस ईश्वरीय है, सशक्त, ऐश्वर्यवान, सुन्दर, ज्ञानवान व ख्यातिवान है तो आपको बाह्य जगत में पदार्थों व सुख-साधनों की आवश्यकता ही नहीं होगी। **आपको कोई अभाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि अभाव केवल आपकी सोच है।** बाह्य जगत की दृष्टि से यदि आप सोचेंगे तो अभाव होगा लेकिन जब प्रभु-कृपा से हुए पुरुषार्थ कर्मों द्वारा आपका भीतरी मानस सर्वसम्पन्न हो जाएगा तो आप स्वयं में पूर्ण अनुभव करेंगे। आपको बाह्य जगत में किसी वस्तु के प्रकाट्य की आवश्यकता ही नहीं होगी। कुछ हो जाए तो भी ठीक, न हो जाए तो बहुत ठीक। सन्तुष्टि व शान्ति भीतरी होती है। बाहर के धन,

पद, नाम, यश, सौन्दर्य, प्रतिष्ठा व ज्ञान से आज तक कभी किसी को सन्तुष्टि व तृप्ति नहीं मिली है। बड़े-बड़े भूमिपति, राजा, महाराजा धन, ज़मीन, वैभव के लिए लड़-लड़ कर, आसक्तियों को लिए ही देह छोड़ते रहे हैं। जो भी एकत्रित किया, सब यहीं रह जाता है।

जितना भी हमारा कर्म, धर्म, पुरुषार्थ है, यदि उससे हमारा मानस प्रभावित नहीं हुआ तो उसका कोई अर्थ नहीं है। सम्पूर्ण प्रभाव मन से होता है। चाहे करोड़ों जन्मों तक प्रवचन सुनते रहो, शास्त्रों-पुराणों का मनन करते रहो, जब तक आपका मानस प्रभावित नहीं हुआ तब तक उसकी कोई सार्थकता नहीं है। यह पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ सब हमारे मन की मान्यताएँ हैं। मूलतः हमारा बाह्य जगत हमारे भीतरी मानस का प्रकटीकरण है। हमारी धन-दौलत, चल-अचल सम्पत्ति का जो मूल्यांकन हमारे मानस में है उसके अनुसार हमारा आर्थिक स्तर होता है, यदि वह हमारे मानस में है तो। मेरे पास अचानक कहीं से कोई धन आ गया तो उस धन की मात्रा से मैंने स्वयं को धनवान मान लिया। लेकिन ऐश्वर्य और धनाढ्यता मानसिक हैं, बाहर धन के रूप में उसका मायिक प्रकाट्य है। यदि मानस ऐश्वर्यवान नहीं है तो बाह्य-जगत में धन के होते हुए भी आप निर्धन ही हैं। मान लो आपके पास अथाह चल-अचल सम्पत्ति, नगदी, जेवरात आदि हैं। आप आत्मविश्लेषण करिए, आपका मानस उसी के अनुसार सम्पन्न है या नहीं। इतना धन आप हर समय जेब में तो रख नहीं सकते, लेकिन आपको ज्ञान है कि आपके पास इतना धन होगा। **उस प्रकटीकरण के अनुसार आपका मानस भी सम्पन्न व ऐश्वर्यवान है या नहीं? दूसरे, वह सम्पत्ति आपके मानस से बाह्य जगत में प्रकट हुई है अथवा बाहर प्रकट होकर उसने आपके मानस को प्रभावित किया है।** प्रभु-कृपा से आत्मविश्लेषण करिए। इसका निर्णय आप कर सकते हैं।

बाह्य-जगत में कोई भी प्राप्ति आपके मानस से प्रकट हुई है अथवा किसी प्रक्रिया द्वारा हुई उस उपलब्धि ने आपके मानस को प्रभावित किया है, यह देखना परमावश्यक है। उदाहरणतः हम कोई डिग्री लेना चाहते हैं और

दाखिला लेते हैं कि इतने वर्षों में मैं सी. ए. या एम. बी. बी. एस. कर लूँगा। आप यदि उस डिग्री की प्राप्ति के लिए संघर्षरत हैं, दीवाने हैं, उसे अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है तो तनाव में आप पढ़ते हैं। इसका अर्थ यह है कि उस डिग्री का मिलना या न मिलना आपके मन को अवश्य प्रभावित करेगा। व्यापार में आपने कोई योजना बनाई कि इतने वर्षों में मैं इतना धन कमा लूँगा। इस प्रकार भविष्य के लिए हम संघर्षरत रहते हैं, तो उस उपलब्धि का होना या न होना आपके मन को अवश्य प्रभावित करेगा। इसका कारण क्या है और यह कैसे होता है?

मान लो एक विद्यार्थी सी. ए. बनने के लिए पढ़ाई कर रहा है तो वह उस भविष्य को अपने वर्तमान में पहले ही ढो लेता है। अपने मानस में वह पहले ही सी. ए. हो जाता है और उसे चिन्ता व तनाव इस बात का रहता है कि कहीं उसकी यह डिग्री खो न जाए। जो चीज़ आपको प्राप्त नहीं हुई उसकी चिन्ता किसलिए होती है? क्योंकि आप अपने मन में मान बैठते हैं कि प्राप्त हो गई, इसलिए उस योजना के दौरान आप तनाव व चिन्ता में ही रहते हैं। जिसे हम भविष्य कहते हैं, वह भविष्य नहीं होता क्योंकि वर्तमान में ही हम उसे ढो लेते हैं। **मूलतः भविष्य में जो पाना चाहते हैं, वर्तमान में अपने मन में मनोवैज्ञानिक तौर पर हम उसे पा लेते हैं और बाह्य जगत में उसका प्रकाट्य चाहते हैं।** यदि वह प्रकट नहीं होती तो हम तनावित हो जाते हैं और यदि हो जाती है तो हमें अहं हो जाता है कि मेरे बहुत परिश्रम करने के कारण मुझे यह प्राप्त हुई है। हमें किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति न होने से तनाव व अवसाद मात्र इसलिए होता है, कि मनोवैज्ञानिक तौर पर जो लक्ष्य हम प्राप्त कर चुके थे, वह प्रकट नहीं हुआ। लाटरी का टिकट लेते ही हम मान बैठते हैं, कि लाटरी मेरी ही निकलनी है और हम उस भविष्य को ढो लेते हैं, उस धन के लिए सुनहले स्वप्न भी लेने लगते हैं कि मैं यह-यह करूँगा। इसलिए लाटरी न निकलने पर हमें ऐसा अनुभव होता है कि मानों हमारा करोड़ों का नुकसान हो गया हो। अरे ! वह पैसा आपका था कहाँ जो अब आपका नहीं रहा। इसलिए बाह्य जगत में वस्तु की प्राप्ति होना और न

होना दोनों हमारे मानस को प्रभावित करते हैं।

हमें मानव-देह मिली है। हम नाली के कीड़े नहीं हैं, इस देह व जीवन को हम निरर्थक बरबाद नहीं कर सकते। केवल निरर्थक बरबाद हो जाए तो भी कोई विशेष नुकसान नहीं है। दैवीय संस्थानों द्वारा हमें इस देह व ईश्वर का अपमान करने की सज़ाएँ मिलती हैं। हमें एक-एक क्षण का आनन्द लेने के लिए यह देह प्राप्त हुई है, जो हमारी नहीं है, लेकिन हमारे लिए ही है, जब तक है। साधारण मानव-जीवन भी आँख मूँद कर नहीं जिया जा सकता। **भविष्य को, जिसे हम अज्ञात रूप से अपने वर्तमान में ढो लेते हैं, उसका बाह्य जगत में प्रकटीकरण चाहते हैं।** उस प्रकटीकरण के लिए हम चिन्तातुर हुए संघर्षरत रहते हैं। जिसके नेपथ्य में सूक्ष्म मनोभाव यह होता है कि कहीं मेरी वह प्राप्ति खो न जाए जो कि मानसिक तौर पर हो चुकी है। **बाह्य जगत को मैंने मन पर ढोया और उसका मैं प्रकाट्य चाहता हूँ।**

आपको अपने एक-एक क्षण की निगरानी रखनी होगी, आत्मविश्लेषण करना होगा कि मैं क्या सोच रहा हूँ, किस ओर जा रहा हूँ, इसका प्रभाव क्या होगा। **आपको ईश्वर ने आनन्द में जीवन रूपी उत्सव मनाने के लिए भेजा है।** आप अपनी उत्कृष्टतम बुद्धि से विचार करें कि मात्र भृकुटि विलास से करोड़ों ब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन व संहार करने वाले उस प्रभु ने, उस सच्चिदानंद ने आपसे क्या करवाना होगा?

हमारा जन्म हो गया, अमुक स्थान व परिस्थितियों में अमुक माँ-बाप से क्यों हुआ, हम नहीं जानते। हमें अपने जन्म होने की कोई भी जानकारी नहीं थी, परन्तु यह जानकारी है कि मृत्यु अवश्य होगी। लेकिन कब, कहाँ, कैसे होगी इसकी कोई जानकारी हमें नहीं है। जन्म अनिश्चित था, मृत्यु भी अनिश्चित है। क्योंकि जन्म हुआ है इसलिए मृत्यु अवश्य होगी। दूसरी ओर महापुरुषों ने कहा है और सद्गुरु-कृपा से मैं स्वयं भी अनुभव करता हूँ कि **कोई भी कृत्य मेरे हाथ में नहीं है। मेरे हाथों से प्रभु वह करवा लेता है जो मेरे अपने हाथ में है ही नहीं। साथ ही मुझे ईश्वर ने यह भी जनवा दिया कि जो मैं इन हाथों से एकत्र कर रहा हूँ वह सब मैं खोकर जाऊँगा। यदि**

जीवन-काल में नहीं खोऊँगा तो जीवन के अन्त में अवश्य खो दूँगा। जीवन-काल में किसी वस्तु का खोना मुझे अन्त में बहुत प्रभावित करता है। मुझे वह खोना इसीलिए लगता है, क्योंकि मेरे भीतर मानस में उस वस्तु की उपस्थिति रहती है, कि मेरे पास यह थी। **बाह्य जगत में उसका प्राकट्य न देखकर उसकी प्राप्ति करने वाला उपस्थित हमारा वह मानसिक रूप उसके न होने की हमें याद दिलाता रहता है।** बाह्य जगत में उसका प्राकट्य समाप्त हो गया लेकिन मानस में वह उपलब्धि मौजूद है। यदि मेरे अन्दर मेरा वह व्यक्तित्व ही न हो जिसने वह पाया था तो किसने, क्या खोया? उदाहरणतः किसी की पत्नी नहीं रही और उसकी उसे बहुत याद आती है। उसे किसकी याद आती है? अपनी पत्नी की नहीं बल्कि अपने उस रूप की याद आती है जिसकी वह पत्नी थी, जिसके साथ वह रहती थी। वास्तव में पत्नी के साथ उसका वह स्वरूप भी मृतक हो चुका है। देहाध्यास के कारण अपने उस मृतक रूप से स्वयं को तद्रूप करके वह यह मान रहा है कि वह ही वह है जिसकी पत्नी का देहावसान हो गया।

आपको जो अपनी पुरानी स्मृतियाँ आती हैं, उसमें आप भी तो होते हैं, कि मैं उसके साथ वहाँ गया था, वो मुझे यह कहा करती थी। वास्तव में मैं अपने उस स्वरूप का अभाव अनुभव करता हूँ जो उसके साथ सम्बद्ध था। उस रूप को मैं अभी भी अपना आपा ही समझ रहा हूँ जबकि वह तो गया। जब कोई मर जाता है तो उसका पिण्ड-दान करते हैं। अरे ! पिण्ड-दान अपने उस रूप का भी करो **जो उसके साथ जुड़ा था।** लेकिन हमें नकारात्मकता ढोने की आदत है। जो खो गया, वह खो गया, लेकिन मैंने अपना वह स्वरूप अभी भी पाला हुआ है कि मैं वही हूँ। मैं नकारात्मकता में अपने उस स्वरूप को क्यों पालता हूँ जो मुझे दुःख देता है। यदि पत्नी नहीं रही तो मैं अपने उस रूप को क्यों नहीं पालता जब मैं अविवाहित था, दोस्तों के साथ मौज लेता था।

A thing of beauty is a joy for ever. हम रोज़ अपने घर की सफाई करते हैं, कूड़ा-कबाड़ा निकालते हैं तो हम अपने मानस की सफाई क्यों नहीं

करते ! वे स्मृतियाँ और अपने वे रूप रखें जो हमें आनन्दित करें, शेष निकाल दें। हवन करते समय अपने दुःखद स्वरूपों की आहूति डाल दें। **आज जो कुछ धन-सम्पदा हमारे मानस में है, वही तो हमारी है।** यदि किसी राजा के पुत्र को पागलपन हो जाए और वह स्वयं को भूलकर भीख माँगनी शुरू कर दे तो इसका अर्थ यह हुआ कि युवराज होते हुए भी वह मानसिक तौर पर भिखारी हो गया। **महत्त्वपूर्ण यह है कि आपके मानस पर किसी भी परिस्थिति का क्या प्रभाव हुआ है।**

पहले प्रत्येक वस्तु की मान्यता और स्वीकृति आपके मानस से होती है। हमारे जितने भी रिश्ते-नाते हैं वे सब हमारे मन की मान्यताएँ हैं। हम स्थूल-देह को **'मैं'** मानकर समस्त सूक्ष्म जगत खड़ा कर लेते हैं, कि यह मेरी माँ है। अरे ! हमने स्वयं को पैदा होते देखा है क्या? हमने सुना है या हमें बताया गया है। तो माँ हमारी मान्यता है और सारा संसार ही हमारी मान्यता पर आधारित है। आजकल वैज्ञानिक प्रगति हो गई है, डी. एन. ए. टैस्ट होते हैं। डी. एन. ए. के परिणामों में, यदि जिसे आपने माँ माना है वह आपकी माँ न हो, कोई दूसरी औरत हो तो क्या आप उसे अपनी माँ मान लेंगे। नहीं मानेंगे। आप उसी को अपनी माँ स्वीकार करेंगे जिसने आपको पाल-पोस कर बड़ा किया है या जिसे आपने माना है। **इसी प्रकार पिता मान्यता है, भाई-बहन मान लिए, हमने उन सबको माना है जो अन्ततः हमारे मन को क्लेश देते हैं। यह है हमारे मन की नकारात्मकता। जो नश्वर है उसको मान रहे हैं। हमें पता है ये सब क्षण-भंगुर हैं, कभी भी मुझे छोड़कर जा सकते हैं या इन्हें मैं छोड़कर चला जाऊँगा।**

हमारी मान्यता में बड़ा बल है। अपनी मान्यताओं का संसार खड़ा कर लिया और **यह नहीं देखा कि जो मान रहा हूँ वह छूटना भी है। जो सच्चिदानंद-स्वरूप ईश्वर, मेरा था, मेरा है और मेरा ही रहेगा, उसे नहीं माना।** हाँलाकि वह मेरी मान्यता का मोहताज नहीं था। मेरे उसे न मानने पर भी वह मेरे लिए सारा प्रबन्ध करता रहा। मुझे हवा, पानी, सूरज की धूप, चन्द्रमा की चाँदनी सब कुछ देता रहा। उसे कुछ टैक्स भी नहीं देना

पड़ता। यदि हम उसको मान लें जिसने हमें माना हुआ है तो हमारा जीवन आनन्दमय हो जाए। **यदि हम उसे नहीं मानते तो भी वह हमें सब कुछ देता है, लेकिन आनन्द का अधिकार वह छीन लेता है, क्योंकि आनन्द ईश्वरीय-स्वरूप का है। ईश्वरीय सत्ता, यह समस्त प्रकृति केवल सुख दे सकती है जोकि सीमित है और जो दुःख में अवश्य बदलेगा, परन्तु आनन्द अविरल है।**

मैं मान्यता किसको दे रहा हूँ? आपका समस्त सूक्ष्म-जगत आपकी मान्यता है। यह मान्यता देहाध्यास के कारण हुई, यह दोनों समानान्तर चलते हैं। **'देहाभास' में कोई मान्यता नहीं होती, उसमें मात्र एक देह की अनुभूति होती है। जिसे जीव अभिव्यक्त नहीं कर सकता। वह संवेदना जब अभिव्यक्ति में आती है, कि 'मैं देह हूँ' तो देहाध्यास के रूप में प्रकट होती है।** इस विषय का सविस्तार वर्णन मैंने **'देहाभास से भस्माभास'** शीर्षक प्रवचन में किया है। **'मैं देह हूँ'** के साथ ही मेरा समस्त सूक्ष्म-जगत विभिन्न रूपों में प्रकट हो जाता है। जिसने जगत को जो मान लिया वह उसके गले पड़ जाता है और इन्हीं उलझनों में जीव अपनी ही सृष्टि में उलझता चला जाता है। सर्वप्रथम स्थूल-देह हमारे सिर पर सवार होती है कि मैं बीमार हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मेरा जन्मदिन है, इत्यादि। यह देह सिरदर्दी इसलिए बनी रहती है, क्योंकि इसे आपने अपना स्वरूप समझ लिया। अरे! देह मिली है और देह जाएगी। न आपकी मर्ज़ी से आई है न आपकी मर्ज़ी से जाएगी, आप इसे कितना सम्भाल कर रख सकते हैं? किस देह को लेकर मैं डींग हाँक रहा हूँ, जो मेरी है ही नहीं, जो मुझे अवश्य छोड़कर चली जाएगी। आप उस शक्ति को, अपने उस स्वरूप को मानें जो आपको हर वक्त गोद में लिए बैठी रहती है। जिसने आपको माना है। **जो था, जो है और जो रहेगा आप उसे मान लीजिए।** यदि आपने जन्म को माना है तो मृत्यु होती है। यद्यपि किसी ने अपना जन्म होते नहीं देखा, **प्रभु की लीला देखिए कि स्वप्न तक में हम अपना जन्म और मृत्यु नहीं देखते। स्वप्न में भी हम दूसरों को ही जन्मते-मरते देखते हैं। अपना जन्म और अपनी मृत्यु तो**

हमने स्वप्न में भी कभी नहीं देखी। हम किसी पर बहुत प्रसन्न होते हैं तो आशीर्वाद देते हैं, कि ईश्वर करे तुझे स्वप्न में भी कोई दुःख न हो। तो ईश्वर ने हम सब पर इतनी कृपा की है, उस आशीर्वाद के साथ हमें देह दी है कि स्वप्न में भी हम अपना जन्म और मृत्यु नहीं देखते।

तो बात चल रही थी कि आपका बाह्य-जगत आपके मानस का प्रकाट्य है अथवा इस बाहरी मायिक प्रकाट्य ने आपके मानस पर प्रभाव डाला है। तो हमें अपनी निगरानी स्वयं करनी होगी कि यदि बाह्य जगत में कोई प्राप्ति हमें चिन्ताओं, तनावों, कष्टों व उलझनों से गुज़र कर हुई है तो उस प्राप्ति ने पहले ही हमारे मानस पर कुप्रभाव डाल दिया था। यदि प्राप्ति के दौरान मैं चिन्तातुर और तनावित रहा तो उस प्राप्ति का कदापि भोग नहीं हो सकता और उसके खोने के दुःख में बाद में भी मैं विक्षिप्त ही रहूँगा। इसलिए जिनके पास बहुत कुछ है, वे भी दुःखी हैं और जिनके पास नहीं है, वे तो दुःखी हैं ही। उन्होंने वे प्राप्तियाँ प्रकट होने से पहले ही मानस में ढो ली थीं। प्राप्ति हुई तब आपने मान लिया कि मेरे इतना परिश्रम करने व जुगाड़ लगाने के कारण वह प्राप्ति मुझे हुई है, मैं सचमुच बहुत चतुर हूँ। ईश्वरीय मानस से मात्र प्रकाट्य होता है, वहाँ कोई प्रक्रिया या Process नहीं है। क्षण-क्षण आनन्द में ही प्रकटीकरण होता रहता है।

हमारे मन में पहले भाव आता है, फिर बुद्धि उन भावों को शब्द देती है और फिर कोई कृत्य बाह्य जगत में रूप धारण करके प्रकट हो जाता है। आपको कोई चित्र बनाना है तो आप एक भावमय जगत में चले जाएँगे। **भाव के शब्द नहीं होते, भाव को बुद्धि शब्द देती है** फिर आप व्यक्त करते हैं या भाव किसी अन्य प्रतिभा या कला के माध्यम से व्यक्त होता है। फिर जिसने वे शब्द सुने, उसने पहले वे शब्द अपनी बुद्धि से पकड़े। **बोलने वाले ने पहले अपना भाव पकड़ा फिर बुद्धि द्वारा मिले शब्दों से उसे आकार दिया, लेकिन सुनने वाले ने पहले बुद्धि से वे शब्द पकड़े फिर उसे भाव दिया, जो उसका भाव उस समय था।** उदाहरणतः हम किसी से कुछ विशेष बात कहते समय उसका मूड देखते हैं कि उसका मनोभाव उस

समय उस बात के लिए तैयार है भी या नहीं। यह व्यवहार कुशलता है। किस वक्त किसको क्या बात कहनी है, उसकी हैसियत, परिस्थिति या मूड कैसा है, यह देखना पड़ता है। उसकी प्रशंसा करके या किसी भी प्रकार से उसका मन ऐसा बनाना पड़ता है, कि आपके शब्दों का अपेक्षित प्रभाव पड़ सके। जिससे हमारी बहुत बनती है उसे चाहे कभी अपशब्द भी कह दें तो वह बुरा नहीं मानता और जिससे नहीं बनती उसे हमारी की हुई प्रशंसा भी कभी-कभार चुभ जाती है।

शब्द सुनाने से पहले श्रोता की वह भाव-भूमि उत्पन्न करनी चाहिए जिससे वह आपके शब्दों से वही भाव ग्रहण करे जो आपका था। इसके लिए एक बहुत सरल और दिव्य विधि है कि कोई भाव उठने और कुछ कहने तथा करने से पहले आप प्रभु से दो मिनट प्रार्थना करें **कि प्रभु बोलने वाले, सुनने वाले दोनों आप ही हैं तो यह सारा कार्य स्वतः ही हो जाएगा।** आप उस व्यक्ति के पास उसी समय पहुँचेंगे जब वह खुश मूड में होगा और उसका भाव आपके अनुकूल होगा। यदि वह दुःखी मूड में है तो उसका आपके शब्दों को सुनकर दुःखी होना भी आपके हित में ही होगा। **कि प्रभु तेरा भाव है, तेरे ही शब्द हैं, बोलने वाले भी तुम हो, सुनने वाले, ग्रहण करने वाले भी तुम ही हो।** आपको हर समय अपने मन के भावों का निरीक्षण करना होगा और स्वयं को प्रभु से जोड़ना होगा।

किसी भी योजना, परियोजना अथवा कृत्य के लिए जब मन में भाव उठे तो पहले उसे प्रभु समर्पित करो कि प्रभु ! इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल आप हैं। तो समय आने पर वह योजना या कृत्य यदि आपके हित में होगा तो बाह्य जगत में भी प्रकट हो जाएगा, नहीं तो नहीं होगा, लेकिन दोनों स्थितियों में आप समता और आनन्द में रहेंगे। मेरे समस्त प्रवचन और जीवन-दर्शन मानव-जीवन को अत्यधिक गुणात्मक और आनन्दमय बनाने के लिए हैं। क्योंकि कोई कितने वर्ष जिया और क्या-क्या उसने बाह्य जगत में प्राप्त किया, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसका जीवन कितना गुणात्मक है, क्या वह आनन्द से ओत-प्रोत रहा है, क्या उसने आत्मविभोर होकर जीवन

का पल-पल जिया है, क्या उसके आने से सब लोग आनन्दित हो जाते हैं, क्या सब उसकी प्रतीक्षा करते हैं, क्या उसे देखकर लोग अपने दुःख-दर्द भूल जाते हैं? नहीं तो यहाँ क्या लेकर आए हैं और क्या लेकर जाना है ! हम हैं कौन? तो **मेरे समस्त प्रवचन इसी दिशा में हैं, कि इस सत्य को आप शीघ्रातिशीघ्र देह के रहते हुए देह ही से अनुभव कर लें तो आपका मानव-देह धारण करने का उद्देश्य पूरा हो जाएगा। जितना भी समय बचा है इस सत्यानुभूति का देह में सदुपयोग करें, आनन्द लें।** लेकिन हम देह के मिलते ही पहले देह का प्रयोग करना शुरू कर देते हैं, स्वयं को देह मानकर देह के सुखों में ही भटकते रहते हैं, कि सत्संग बुढ़ापे में कर लेंगे। बुढ़ापे में ईश्वर का नाम लेना क्या मज़ाक है। अरे ! आपके जीवन का स्तर व गुणात्मकता ईश्वर से जुड़े बिना क्या होगी, क्या आपने यह सोचा है? तथाकथित होश में होते ही पहले इन सत्यों की गुरु-कृपा से अनुभूति करिए, फिर उसे देह में उपयोग करिए। लेकिन यदि आपने Realisation ही नहीं किया तो Utilisation क्या करेंगे।

हम भ्रम के कारण मायावश देह को **'मैं'** मान बैठते हैं, जिसने स्वयं को मात्र देह जाना वह करोड़ जन्मों तक दुःख ही दुःख में रहेगा, क्योंकि पहचान ही गलत है। जो वस्तु आपकी अपनी है ही नहीं, उससे स्वयं को पहचान रहे हैं और वह भी वह वस्तु, जो ईश्वर की है। जब हम ईश्वर-चिन्तन, नाम-जाप, सत्संग आदि में बैठते हैं तो हमें हमारी **'मैं'** की अनुभूति हो जाती है। **'मैं'** पृथक् है और **देह** पृथक् है। **देह आपके लिए है, आपकी नहीं है।** आपके लिए इसलिए है, कि आप देह के द्वारा अपना विदेह सच्चिदानंद-स्वरूप (अपनी जीवात्मा अथवा विशुद्ध 'मैं') पहचान लें और फिर देह में उसका सदुपयोग करें। आनन्द देहातीत है। वह हमारी स्थूल-देह व उस पर आधारित सूक्ष्म-देह से परे **'कारण-देह'** का है:–

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुख राशि।'

छः ईश्वरीय विभूतियाँ–सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति तथा वैराग ईश्वर की तरह अदृश्य व निराकार हैं। इनका किसी भी

माध्यम से प्रकटीकरण दृश्यमान होता है। **सौन्दर्य** विभिन्न रंग-रूपों में, **ज्ञान** शब्दों तथा अन्य कलाओं द्वारा, **शक्ति** किसी वीरतापूर्ण प्रदर्शन में, **ऐश्वर्य** सुख-शान्ति, सन्तोष, समृद्धि, स्वास्थ्य, स्वजन व सत्संग के रूप में प्रकट होता दिखाई देता है। लेकिन स्वयं में ये विभूतियाँ ईश्वरीय निराकार मानस की भाँति अदृश्य व निराकार हैं, जो पाँच प्राणों के ज्योति-पुंज सच्चिदानंद ईश्वर में समाहित हैं। **जो अदृश्य है उसे अनुभूत करने के लिए दृश्यमान साकार वस्तुएँ चाहिए। लेकिन इस अदृश्य प्यास की पूर्ण संतुष्टि अदृश्य से ही होगी।** साकार प्रकटीकरण का महात्म्य तभी तक है जब तक अपने अदृश्य स्वरूप, जो छः विभूतियों से युक्त है, उसकी अनुभूति नहीं हो जाती।

यह समस्त प्रकृति ईश्वरीय सत्ता है, स्वयं में सद् है। यह मायिक प्राकट्य उसके पंच-प्राण ज्योति-पुंज सच्चिदानंद-स्वरूप की छाया है। इसी में सारा जगत भ्रमित है। **ईश्वर की सुकृति उसका स्वरूप है और यह मायिक प्रकृति उसकी सत्ता है। ईश्वर का स्वरूप कैसा है, क्या है? कि, जैसा तू चाहता है। प्रकृति एक ही है और स्वरूप जैसा तू चाहता है।** जीवात्मा बिना रूप के रह नहीं सकता। जब इसको देहाध्यास के स्थान पर भस्माध्यास हो जाता है तो यह समस्त प्रकृति और अपनी देह तथा सुख देने वाली ज्ञानेन्द्रियों को भूल जाता है। लेकिन यह बिना आकृति व रूप के रह नहीं सकता तो इसे ईश्वरीय स्वरूप, अपने इष्ट की स्मृति आती है और ईश्वरीय सत्ता से वैराग हो जाता है। तब यह अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति के लिए लालायित हो उठता है। यही देह व जीवन का लक्ष्य है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय'

(21 अगस्त 2005)